समय भीष्म शरीर, मन और वचन से श्री कृष्ण का आशिर्वाद लेने के लिए व्यग्र हुए थे । सुविस्तर धर्म्मोपदेश समाप्त करने पर, उन ने वासुदेव-सहस्त्रनाम का पाठ किया था, और शरीरत्याग के पूर्व्व श्री कृष्ण से आज्ञा लेना उन का अन्तिम वाक्य था।

दैत्यपति हिरण्यकशिपु के पुत्र प्रह्लाद भगवद् भक्तों के चिर-प्रसिद्ध आदर्श हैं । गुरु के हजार समझाने और लाख मना करने पर भी वह निरन्तर ईश्वर की उपासना और हरिनाम जपते ही रहे । उन के पिता ने उन्हें नाना प्रकार का भय दिखाया; अन्त को उन का प्राण तक लेने के लिए उद्यत हुआ । किन्तु किसी तरह भी उन की हरि भक्ति विचलित नहीं हुई; उन की हरि भक्ति के प्रभाव से मदमस्त हाथी उन को पैर तले कुचल कर मार डालने के लिए ललकारे जाने पर उल्टे उन्हीं का पैर चाटने लगा । जिस बड़े भारी पत्थर के भार से उन के चूर चूर हो जाने की बात थी, वह भी उन के वक्षस्थल पर रूई के फाहा सा हलका ही पड़ा । जिस तलवार की तेज धार से उन का सिर कट जाना सोचा जाता था, वह भी उन के गले में लगते ही भोथा हो गया । जिस विष द्वारा उन की नाड़ी में मृत्यु संचारित करने की बात थी, वह हला-हल विष भी उन के शरीर में निर्मल जल की भांति शीतलता पहुंचाने लगा । अन्त को यहां तक हुआ कि भगवान ने नृसिंह मूर्त्ति धारण कर स्फटिक स्तम्भ से निकल अपने भक्त को सदा के लिए विपत्ति से त्राण किया । इस प्रकार अलौकिक भक्तिबल से समस्त यातना और दुर्दैव को जय कर, अन्त को प्रह्लाद ने भगवान से यह प्रार्थना की—

" नाथ योनि सहस्त्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम् ।
तेषु तेष्वच्युता भक्तिरच्युतास्तुसदाहरि ॥"

(विष्णु पुराण १ । २० । १८)

नाथ सहस्रों योनि में, जहां जहां हम जांय ।
तहां रहे अच्युत बनी, अच्युत भक्ति सदाय ॥

महात्मा ध्रुव ने विमाता के कुव्यवहार से सन्तप्त हो कर पितृगृह त्याग वन में जा ऐसी अगाध भक्ति और दृढ़ अध्यवसाय से विष्णु की आराधना और तपस्या की, कि भगवान ने प्रसन्न होकर उन्हें दर्शन दिया और ध्रुव लोक में उनका सिंहासन स्थापित कर उस लोक का राज्य उनके हाथ में सौंपा ।

जिस में अटल भक्ति होती है, उस के पदानुसरण करने की इच्छा स्वभावत: होती है । फिर यदि वह आदर्श पुरुष स्वयं ईश्वर ही हों, तो उस इच्छामय के इच्छानुसार कार्य्य करने की जो असीम श्रद्धा होती है उस का कहना ही क्या है । ज्ञान और सहानुभूति से श्रद्धा का जन्म है । कारण यह है, कि ज्ञान से सत् पथ सूझने लगता है और सहानुभूति सब से बढ़ कर सुगम मार्ग बताती है । ईश्वर सर्व्वशक्तिमान, सर्व्वज्ञ, अनन्तदयालु हैं; अतएव तत्वज्ञानियों को सब तरह से ईश्वर में तल्लीनता अतिशय श्रेय और प्रिय होगी, यह स्वत: सिद्ध है । जब जीवन की सब घटनायें उसी दयामय की इच्छाधीन ज्ञात होने लगेंगी, तब हम लोग सुख दुख सब को एक समान जान सन्तुष्ट होने में समर्थ होंगे । पुत्र जिस भांति ज्ञानी और स्नेहमय पिता का आज्ञानुवर्त्ती होता है, उसी प्रकार जीव भी अपने सर्व्वज्ञ और करुणामय परम पिता का आज्ञाकारी

होगा । इसी से हम लोग पूर्ण मनुष्यत्व के अटल आदर्शस्वरूप श्री रामचन्द्र के चरित्र में ईश्वरेच्छानुवर्त्ती होने का चूड़ान्त उदाहरण पाते हैं । उन का राज्याभिषेक होते हुए भी उस के नहीं होने पर जब जब विपत्तियां होती गईं, तब तब वह सदा यही कह कर लोगों को समझाते रहे कि जगत में जो कुछ भला बुरा होता है, वह सब मंगल के ही लिए होता है । यह कहना व्यर्थ है कि वह स्वयं इस प्रबल बवंडर में अचल और अटल की भांति स्थिर और धीर बने रहे ।

इस के विपरीत जिस की ईश्वर में श्रद्धा नहीं है, हम लोग उस का पराभव पग पग में देखते हैं । रावण के ऐसे पराक्रमी और विश्वविजयी भूपतियों को ईश्वर से द्रोह करने के कारण समूल विनष्ट होना पड़ा । मगधराज जरासन्ध ने श्री कृष्ण के वाक्य की अवज्ञा कर बन्दी राजाओं को नहीं छोड़ा; इसी से भीम के हाथ उसे मरना पड़ा । शिशुपाल श्री कृष्ण भगवान की निन्दा करने के कारण उन के चक्र से मारा गया । श्री कृष्ण के परामर्श का अवहेला करने के कारण ही दुर्योधन को सवान्धव विनष्ट होना पड़ा । इसी प्रकार के असंख्य उदाहरण पुराण और इतिहासों में पाये जाते हैं । जो कोई ईश्वर से द्वेष वा उन की अवज्ञा करेगा, उस को अकाल ही काल का कौर होना पड़ेगा ।

शास्त्र मे बार बार राजभक्ति की आज्ञा दी गई है, और बहुतेरे उदाहरणों के द्वारा उस की आवश्यकता दिखाई गई है । राज शक्ति समाज के शासन और समाज के अभ्युदय की नींव है । राजा समाज के शान्तिस्थापन और क्रमोन्नति-साधन का मूलाधार है । उस शक्ति का अभाव होने से समाज

में विप्लव और अराजकता छा जाती है । युधिष्ठिर के इन्द्रप्रस्थ की राजगद्दी होने पर, उन के चारो भाइयों ने दिग्विजय कर जो धन प्राप्त किया, वह सब युधिष्ठिर के चरणों पर रख दिया; क्योंकि उन लोगों ने राजा के लिए ही युद्ध किया था, अपने स्वार्थ के लिये नहीं; जब युधिष्ठिर जूए में हार कर वन को चले, तब धृतराष्ट्र का आधिपत्य त्याग सब प्रजा उन के साथ चलने को उद्यत हुई; किन्तु उन्हों ने उन्हें हस्तिनापुर को लौटा, राजा धृतराष्ट्र का आज्ञानुवर्त्ती होने का उपदेश दिया; और कहा कि, इसी प्रकार कर्त्तव्य पालन करने से प्रजा राजा का सर्व्वाङ्गीन मंगल-साधन करने में समर्थ हो सकती है ।

प्राचीन समय में जनकादिक राजर्षियों के उच्च आदर्श और तत्कालीन प्रजाहितैषी भूपतियों के अटल कर्तव्यपालन द्वारा प्रजाओं की राजभक्ति समधिक बढ़ती रहती थी । विधि-पूर्व्वक प्रजारञ्जन करने के ही कारण भूपति का नाम "राजा" है । जो यथार्थ राजा कहा जा सकता है, वह सब तरह से अपना सुख और स्वार्थ छोड़ निरन्तर प्रजा की भलाई करने में रत रहता है । राजा पृथ्वी पर ईश्वर की शक्ति, न्यायपरता और प्रजापालन के कार्य्यों का प्रतिनिधि-स्वरूप है । इसी से भगवद् भक्ति के बाद ही राज भक्ति को स्थान दिया गया है। अङ्गिरा वंशोद्भव किसी महर्षि ने राजा मान्धाता को इस प्रकार उपदेश किया था " हे मान्धाता ! न्यायपरता से सबों की रक्षा करता है इसी से राजा कहलाता है; मन माना राज्य करे इसलिए नहीं। राजा पृथ्वी का रक्षक है । न्याय और धर्मानुसार प्रजा पालन करने से राजा लोग इस संसार में ईश्वर के समान पूज्य होने में

समर्थ होते हैं । किन्तु, यदि अन्याय और अधर्माचरण करें, तो अवश्य उन को नरकगामी होना पड़ता है। न्याय और धर्म से ही राज्य रक्षित रहता है; न्यायी और धर्मी राजा ही यथार्थ राजा कहा जा सकता है । यदि वह दुष्टों और अधर्मियों को दण्ड देने में समर्थ न हो, तो देवता लोग उसे छोड़ कर अन्यत्र चले जाते हैं, और उस की निन्दा सर्वत्र होती है । देशहितैषिता (patriotism) और जातिहितैषिता (public spirit) के साथ राजभक्ति को घनिष्ट सम्बन्ध है । ये तीन सद्गुण अधिकांश में समान और साथी हैं । एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते । मनुष्य जिस प्रकार अपने पिता माता की सन्तान है, उसी प्रकार अपनी जन्मभूमि की भी है—जिस तरह मातृ गर्भ में जन्म ले कर माता पिता के शोणित से परिपुष्ट होता हुआ उन के स्नेह से लालित और पालित होता है, उसी तरह जन्मभूमि में जन्म ले कर उस के अन्न, जल, और वायु से परिपुष्ट होता हुआ उस की गोद में पालित और शिक्षित होता है ।

जन्मभूमि का प्राचीन कीर्त्ति-गौरव, अपने देश के धर्मवीर, युद्धवीर और अन्यान्य महात्माओं के प्रति आन्तरिक भक्ति और श्रद्धा, स्वदेशवासियों के साथ गाढ़ी सहानुभूति—उन के सुख दुख, जय पराजय और सम्पद विपद का साथी होना तथा जन्मभूमि के प्राकृतिक सौन्दर्य्य और शिल्पविज्ञान की उत्कर्षिता से जो आत्मगौरव के ज्ञान प्रभृति हृदयावेग उत्पन्न होते हैं उसी से देशहितैषिता और समाजहितैषिता का आविर्भाव होता है । मनुष्य की अपनी जन्मभूमि ही जगत में सब से बढ़ कर श्रेष्ठ और आदर्श भूमि है । समाजहितैषिता, देश-

हितैषिता का नामान्तर है । जो सर्व्वसाधारण के हित के लिए अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की क्षति स्वीकार करते हैं, उन्हीं को समाज-हितैषी कहते हैं । जिस तरह स्नेही पिता वा पुत्र परिवार के मंगल के लिए आनन्द के साथ अपने सुख को न्येवछावर करते हैं, उसी तरह देशहितैषी लोग देश और दस के कल्याण के लिए वीरता के साथ अपने स्वार्थ का बलिदान करते हैं ।

शिवपुराण के शतमन्यु की कथा में जन्मभूमि के प्रति कर्त्तव्य-निष्ठा का एक उत्कृष्ट उदाहरण मिलता है। किसी समय अभीर देश में अनावृष्टि और दुर्भिक्ष के कारण उस देश के पण्डितों ने मिल कर इन्द्रयज्ञ का अनुष्ठान किया । इस से इन्द्र प्रत्यक्ष हो उन से बोले—"तुम लोगों ने बड़ा भारी पाप किया है; उस पाप का दण्ड-स्वरूप यह अनावृष्टि और अकाल उपस्थित हुआ है । यदि तुम लोगों में से कोई अपना सर्व्वगुणसम्पन्न, अभिज्ञ, पवित्र और शान्त एकलौता पुत्र आहुतिस्वरूप अग्नि में डाल दे, तो प्रचुर जल की वृष्टि हो ।" इन्द्र की यह बात सुन कर सब हताश हो गये । उस देश में शतमन्यु नाम के एक सर्व्वगुणान्वित, दूरदर्शी, शान्त, संयमी और वैराग्यवान ब्राह्मण बालक वास करते थे । वह सभा में खड़ा हो कर सब के सामने देश के हितार्थ—सर्व्वसाधारण के मंगलार्थ—आत्मोत्सर्ग करने के लिए प्रस्तुत हुए । माता, पिता के जीवित रहते, उन की आज्ञा बिना पुत्र को किसी कार्य्य के करने का अधिकार नहीं, इस से वह उन की आज्ञा लेने के लिए उन के पास जा कर प्रणामपूर्व्वक बोले, "हे पिता !

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी"

जननी और जन्मभूमि स्वर्ग से भी बढ़ कर है । अतएव

ऐसी जन्मभूमि के लिए देहत्याग करने से अक्षय स्वर्ग प्राप्त होगा। जिस देह का कोई ठिकाना नहीं, जो प्राणान्त होने पर खाक हो जायगा, या कुक्कुर शृगाल का आहार बन जायगा, अथवा जघन्य कृमिराशि में परिणत हो जायगा, यदि ऐसे तुच्छातितुच्छ जड़ देह के दे देने से मातृभूमि का, स्वदेशवासियों का हितसाधन कर सकूं, तो इस से बढ़ कर लाभदायक और श्रेष्ठ दूसरा क्या हो सकता है?" यह सुन उन के पिता अवाक हो गये। तब शतमन्यु ने माता के पास जा आत्मोत्सर्ग करने की आज्ञा मांगी। माता अपने सत् पुत्र की गुणावली वर्णन करती हुई बोली—"बेटा, मैं ही अग्नि में प्रवेश करूंगी, तुम्हारे ऐसे लोगों के जीवित रहने से संसार का बहुत मंगल होगा।" यह सुन कर शतमन्यु के पिता बोले—"तुम दोनों ही धन्य हो; तुम में से किसी को भी अग्नि में प्रवेश करना नहीं पड़ेगा, मैं ही अग्नि में प्रवेश कर इन्द्र को सन्तुष्ट करूंगा।" उस समय आकाशवाणी द्वारा इन्द्र ने इन तीनों महानुभावों के देशप्रेम और परार्थपरता की भूरि भूरि प्रशंसा करते हुए कहा—"तुम लोगों के (आत्मोत्सर्ग करने को) दृढ़ संकल्प से आवश्यकीय नरबलि का कार्य्य सम्पन्न हो चुका।" अनन्तर सुवृष्टि द्वारा इन्द्र ने धराधाम को शस्यपूर्ण किया।

जन्मभूमि के लिए प्राणत्याग करने में भी देशहितैषी लोग नहीं हिचकते, क्योंकि देशहितैषिता और जातीय गौरव-पालन की इच्छा नहीं रहने से जातीय महत्व की रक्षा नहीं हो सकती। सारे देश की उन्नति पर, सारे समाज की उन्नति पर मनुष्य की अपनी तथा अपने परिवार की उन्नति निर्भर है। सबों की जो अवस्था होगी, एक की भी वही होगी। सबों का अभ्युदय

एक का अभ्युदय है, सबों की अधोगति एक की भी अधोगति है । समाज को एक विराट परिवार कह सकते हैं । जिस तरह एक परिवार के सब कोई उस की उन्नति वा अवनति के भागी होते हैं, उसी तरह एक समाज वा जाति के सब कोई उस समाज और जाति की उन्नति वा अवनति के भागी होते हैं । जातीय गौरव-रक्षा की इच्छा वर्त्तमान रहन से देश के सर्व्वसाधारण की उन्नति वा अवनति अपनी ही उन्नति वा अवनति सी मालूम पड़ती है; बात भी वास्तव में यही है । समाज की हितैषिता के द्वारा दीन दुखियों को कष्ट से उबारने की इच्छा मानव हृदय में बलवती होती है; यह अन्याय और अत्याचार को रोकने की प्रेरणा करती है; राजा के आईन की मर्य्यादा-रक्षा करने में बाध्य करती है; सब के प्रति न्यायपूर्वक विचार होने में उद्यत करती है; समाज के अनिष्ट से अपना इष्ट-साधन करने की इच्छा को दूर भगाती है; और अपनी भलाई को त्याग कर भी समाज के प्रति कर्तव्य-पालन करने के लिए प्रणोदित करती है । भारत के प्राचीन वीर पुरुष सदा ही दूसरों के मंगल के अर्थ बद्धपरिकर रहा करते थे । भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन को सर्वसाधारण के अभ्युदय के लिए चेष्टा करने और समस्त मानव जाति की रक्षा तथा उन्नति करने का उपदेश दिया था । जो लोग केवल अपनी और अपने परिवार की भलाई की इच्छा रखते हैं, वे मतिमन्द अन्धे ही कर यथार्थ में अपने और अपने परिवार के भविष्यत सुख का मूलोच्छेद अपने हाथों करते हैं ।

सब तरह से माता पिता का आज्ञानुवर्ती होना सन्तान का एकमात्र कर्तव्य है । सभी देश के शास्त्रों में यह आज्ञा बारम्बार

दी गई है । माता पिता का आज्ञानुवर्ती होने का उज्वल आदर्श श्री रामचन्द्र जी हैं । जिस समय महाराज दशरथ ने कैकेई के षड़यन्त्र में पड़ कर राम को बनवास देने का उसे वर प्रदान किया, उस समय कैकेई ने रामचन्द्र से कहा कि तुम्हारे पिता भय से अपना विचार प्रगट नहीं करते । तिस पर रामचन्द्र ने कहा, "आर्यें ! आप ही उन के विचारों को प्रगट कर दीजिए, मैं तुरत उसे पूरा करूंगा । पिता की अभिलाषा को पूरा करने के समान—उन के आज्ञापालन के समान, दूसरा कौन पुण्यकर्म है ?" अपने हितैषियों से हतबुद्धि पिता की आज्ञा उलंघन करने का उपदेश दिये जाने पर, उन ने कहा—"पितृ आज्ञा उलंघन करना मेरा साध्य नहीं; * * * * * मैं पिता की आज्ञा पालन करूंगा ।" पीछे पिता का देहान्त होने पर जब भरत ने राज्य ग्रहण करने में अनिच्छुक हो, अत्यन्त आग्रह से उन्हें सिंहासन पर बैठने का बार बार अनुरोध किया, उस समय भी श्री रामचन्द्र जी ने भरत की सब युक्तियों और अनुरोधों के विरुद्ध वही एक मात्र उत्तर दिया—"पिता के आज्ञानुसार मैं बनवास करूं और तुम राजा हो । पितृ आज्ञा पालन करना हम दोनों का कर्तव्य है । पिता की आज्ञा कभी भी व्यर्थ नहीं हो सकती" ।

हम लोगों को महाभारत में व्याधरूपधारी एक ब्रह्मज्ञानी की ऐसी ही कथा मिलती है । किसी समय उन के चरणों से तत्वज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से, कनिष्क नाम के एक ब्राह्मण के उपस्थित होने पर, जिस परम रमणीय स्थान में अपने वृद्ध माता पिता के रहने का स्थान बनवा दिया था, वहीं उस ब्राह्मण को ले जाकर उन ने कहा, "मुझे जो कुछ तत्वज्ञान और शांति

प्राप्त हुई है, वह केवल इन्हीं माता पिता के चरणों की सेवा से।" पीछे माता पिता के चरणों में साष्टांग दण्डवत कर उस ब्राह्मण का परिचय दे यह कहा—"मेरे यही माता पिता आराध्य देवता हैं। देवताओं की जिस भांति पूजा अर्चा करनी चाहिए, मैं इन की उसी तरह सेवा, पूजा करता हूं * * * * *। ज्ञानियों ने जिस त्रिविध अग्नि की बात कही है, वह अग्नि मेरे लिए यही हैं। हे ब्राह्मण ! मेरी आखों में यही यज्ञ, यही चतुर्वेद हैं * * * * *। माता, पिता, पवित्र अग्नि, आत्मा और गुरु ये ही पांचो सब के लिए अटल भक्ति और पूजा के पात्र हैं।" तदन्तर कनिष्क से व्याधरूपी ब्रह्मज्ञानी ने कहा, कि तुम ने यह अच्छा नहीं किया कि अपने माता पिता को छोड़ वेदाध्ययन के निमित्त इतनी दूर भटकते फिरे। "अब शीघ्र घर लौट कर उन की सेवा और शुश्रूषा करो; तन, मन, वचन द्वारा उन की पूजा अर्चा से उन्हें सन्तुष्ट करो। मैं इस से बढ़ कर कोई दूसरा धर्म नहीं समझता।"

भीष्म ने जिस तरह इच्छामृत्यु का वर प्राप्त किया था, वह किसी से भी छिपा नहीं है। उन ने अपने पिता को अभीष्ट पत्नी प्राप्त कराने के लिए आजन्म कुमार रहना स्वीकार कर, राजसिंहासन को भी त्याग दिया। चन्द्रवंशी राजा शान्तनु सत्यवती से विवाह करने के अभिलाषी हुए; किन्तु पीछे इस से प्रिय पुत्र भीष्मदेव के मन में दुःख हो, इस भय से मन की बात पूरी नहीं कर सकते थे। उन के मन में यह संदेह होता था, कि कहीं ऐसा न हो कि विमाता होने के कारण प्रिय पुत्र भीष्म को वह प्यार न करे। इन्हीं दो संकटों के कारण शान्तनु के मन में बड़ी पीड़ा रहती थी। इसी लिए वह सदा उदास रहा करते थे

भीष्म ने मंत्रियों से पिता की उदासी का कारण जान सत्यवती के पिता के पास जा उसे अपनी कन्या का राजा के साथ विवाह कर देने का अनुरोध किया । उन से सत्यवती के पिता ने कहा "राजा वृद्ध हो चुके, तुम शीघ्र ही राजा होगे; मैं अपनी कन्या तुम्हें भले ही दे सकता हूं, पर उस वृद्ध राजा को नहीं ।" भीष्म ने कहा, "ऐसी बात मन में भी मत लाना; जब मेरे पिता तुम्हारी कन्या के साथ विवाह करने के अभिलाषी हो चुके हैं, तो वह मेरी माता स्वरूपा हैं; मेरे पिता से ही उन का विवाह कर दो ।" सत्यवती के पिता ने कहा, "यदि मेरी कन्या के गर्भजात पुत्र का राजा होना निश्चय हो, तो मैं अपनी कन्या उन्हें दे सकता हूं ।" भीष्म ने तुरत ही प्रतिज्ञा की "मैं अपना ज्येष्ठत्वाधिकार त्याग विमाता के गर्भ से उत्पन्न छोटे भाई को ही राज्य सिंहासन पर बैठाऊंगा ।" सत्यवती के पिता ने कहा, "आप की बात मिथ्या होने की नहीं, यह मैं जानता हूं; किन्तु यदि आप की सन्तान राज्य के लिए विरोध करे तो उस का क्या उपाय है ?" इस का उत्तर भीष्म ने यह दिया " मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि इस जीवन में विवाह कदापि नहीं करूंगा; अतएव मुझे पुत्र न होने से विवाद कौन करेगा ? अब मेरे पिता की अभिलाषा पूर्ण करो ।" यह भीषण प्रतिज्ञा सुन कर देवताओं ने आकाशवाणी द्वारा यह कहा, "इतने दिनों तक इन का नाम देवव्रत था; आज से भीष्म नाम पड़ा ।" वह अपने लिए तो " भीष्म " हुए ही, पर आर्यों के हृदय में आराध्य देवता का स्थान भी पाये । आज भी प्रत्येक हिन्दु अन्तत: भीष्माष्टमी के दिन

"वैराघ्रपद्यगोत्राय सांकृति प्रवराय च।
अपुत्राय ददाम्येतत् सलिलं भीष्मवर्म्मणे ॥"

कह कर उन का तर्पण करते हैं। जब महाराज शान्तनु ने सुना कि ऐसा कठोर व्रत धारण कर, प्रिय पुत्र ने सत्यवती को उन की पत्नीस्वरूप लाया है, और भीष्म की उस प्रतिज्ञा के अन्यथा होने की संभावना नहीं, तब उन्हों ने सत्यवती के साथ विवाह किया; और अपने पुत्र के गुणों से मुग्ध हो आनन्दपूर्ण हृदय से भीष्म को इच्छा-मृत्यु का वर प्रदान किया। जो लोग दुर्दमनीय प्रकृतियों को इस तरह जीत सकते हैं, वे जितेन्द्रिय, महावीर और मृत्युञ्जयी होंगे, इस में आश्चर्य्य ही क्या है?

इधर इस के विरुद्ध दुर्य्योधन की धृष्टता और माता पिता की अवज्ञा ही कुरुक्षेत्र के महा संग्राम का कारण हुआ, जिस के फल से केवल कुरुवंश ही नहीं, वरन समस्त क्षत्रिय जाति का ध्वंश हो गया। उस के पिता ने उस को पांडवों का उचित स्वत्व दे देने का बार बार अनुरोध किया, किन्तु दुर्य्योधन ने इस पर कान नहीं दिया; यहां तक कि सभा में उस की माता गान्धारी ने उसे पिता की आज्ञा पालन करने के लिए बहुत कुछ कहा, पर दुर्य्योधन ने उस की बात न मान कर उल्टा उसके साथ कठोर वचन का प्रयोग किया; इसी मूर्खता के कारण उस का वंशनाश, राज्यनाश और धर्म्म-नाश हुआ। जो सन्तान माता पिता के मन में दुख पहुंचाती है, उस के मङ्गल की सम्भावना कहां? आर्य्य नीतिशास्त्रों में आचार्य्य वा शिक्षक को पिता के तुल्य मानने का उपदेश है, जिसमें शिष्य सदा आचार्य्य की सेवा में तत्पर रहे और भूलकर भी उनकी अप्रसन्नता का कोई कार्य्य न करे। सनातन धर्म्मशास्त्र में ईश्वर और राजा के प्रति जैसी अकपट सेवा और

निर्भरता का उपदेश दिया गया है, वैसाही माता पिता और शिक्षकों के प्रति भी उन्हीं सब गुणों के प्रयोग का उपदेश है। इस के अतिरिक्त इन के साथ नम्रता, कोमलता और शिक्षणीयता का रहना अत्यन्त आवश्यक है। आर्य्य शास्त्रों में माता, पिता और गुरु के साथ कर्त्तव्यनिष्ठा जिस विशिष्ट भाव से उपदिष्ट हुई है, उतना शायद और कोई विषय नहीं। आर्य्य वीरों के चरित्र में यह विशेषता सदैव से झलक रही है। जिस समय पाण्डव भीष्म और द्रोण के विरुद्ध अस्त्रधारण करने पर बाध्य हुए थे, उस समय भी उन लोगों ने उन के साथ कितना अधिक प्रेम और भक्ति दिखाई थी। नित्य प्रति वे युद्धारम्भ के पहले गुरु जनों के चरणों में अपना प्रणाम जनाया करते थे। जब धृष्टद्युम्न द्रोण की चोटी पकड़ कर उन को मारने के लिए उद्यत हुआ, तब अर्जुन बड़े ऊंचे स्वर से पुकार कर बोले "बस! गुरु को जीता रक्खो; उन्हें मारना उचित नहीं।" अनन्तर द्रोण के मारे जाने पर अर्जुन ने रोते २ यह कहा "मैं नरकगामी हुआ; लज्जा ने मुझे मृतवत् किया।"

केवल पहले की की हुई प्रतिज्ञा वा शास्त्रोक्त कर्त्तव्यपालन के कारण कहीं २ गुरुवाक्य का उलंघन करने के दृष्टान्त शास्त्रों में पाये जाते हैं। आदर्श धर्म्मवीर भीष्मदेव की जीवनी में इसका एक उत्तम दृष्टान्त देखा जाता है। अपने पिता शान्तनु का शरीरान्त होने पर उन ने अपने प्रतिज्ञानुसार अपने विमात्र भाई चित्राङ्गद को राजा बनाया, और चित्राङ्गद के युद्ध में मारे जाने पर उस के छोटे भाई विचित्रवीर्य्य को हस्तिनापुर के सिंहासन पर बैठाया। विचित्रवीर्य्य के अनुरूप पत्नी ढूंढ़ते २ उन ने सुना कि काशी राज्य की तीन कन्यायें स्वयम्बर करने को हैं। उन सबों को सब प्रकार से अपने भाई

को स्त्री होने के योग्य समझ, वह काशी जा कर स्वयम्बर सभा में उपस्थित सब राजाओं को अपने बाहुबल से पराजित कर हस्तिनापुर ले आए। अम्बिका और अम्बालिका ने तो अपने इच्छानुसार विचित्रवीर्य्य से विवाह किया, पर सब से बड़ी अम्बा ने कहा कि मैं पहले मन ही मन शाल्व को बर चुकी हूं। इस पर भीष्म ने उसे यथोचित सम्मानपूर्वक शाल्व के निकट भेजवा दिया। किन्तु शाल्व ने उसे ग्रहण नहीं किया। उन ने कहा "जब भीष्म युद्ध में जीत कर हम से तुम्हें ले गए हैं, तो अब फिर तुम्हें दानस्वरूप उन के हाथ से नहीं ले सकता"। अम्बा भीष्म के यहां लौट आकर बोली "जब आप के जीत कर मुझे लाने के कारण शाल्व ने मुझे ग्रहण नहीं किया, तो आप को ही मुझ से विवाह करना पड़ेगा"। अम्बा के दुःख से भीष्म दुःखी हुए सही, किन्तु पूर्व प्रतिज्ञा की रक्षा की प्रेरणा से उस का पाणिग्रहण नहीं कर सके; क्योंकि उन ने आजन्म कौमार-ब्रह्मचर्य्य-व्रत अवलम्बन किया था। इस पर अम्बा ने क्रोधित हो कर उन के गुरु परशुराम का शरण लिया। परशुराम ने अम्बा का पक्ष ले कर भीष्म को उस का पाणिग्रहण करने का अनुरोध किया। किन्तु भीष्म ने कौमार-ब्रह्मचर्य्य-नाशक इस अनुचित आज्ञा के पालन को अपना कर्तव्य नहीं माना। इस से गुरु शिष्य में घोर संग्राम हुआ। बहुत दिनों तक लड़ते २ दोनों क्षत विक्षत हुए। दोनों ही क्लान्ति और रक्तस्राव के कारण कई बार मूर्च्छित हुए, और फिर मूर्च्छा भङ्ग होने से ही युद्ध आरम्भ करते। इस प्रकार २८ दिन तक युद्ध करने के बाद परशुराम ने स्वीकार किया कि अब मुझ में क्षमता न रही, भीष्म की जय हुई। जो हो, इतना निश्चय है कि भीष्मदेव अम्बा के दुःख का कारण

हुए थे; इस से अन्त को अम्बा भी उन की मृत्यु का कारण हुई ।

माता, पिता और गुरु के समान पूज्य कुटुम्ब और अपने से अधिक ज्ञानवान तथा नीतिवान लोगों को नैमित्तिक गुरु कहा जा सकता है। स्वाभाविक गुरु के प्रति जिस प्रकार का व्यवहार पहले कहा जा चुका है, नैमित्तिक गुरु के प्रति भी उसी प्रकार का व्यवहार करना चाहिए। मनु ने कहा है—

"विद्यागुरुष्वेतदेव नित्या वृत्तिः स्वयोनिषु ।
प्रतिषेधत्सु चाधर्माद्धितं चोपदिशत्स्वपि ॥
श्रेयःसु गुरुवद्वृत्तिं नित्यमेव समाचरेत् ।"

(मनु २। २०६। २०७)

विद्यादान सहायगुरु निज वंशज सुविशेष ।
मना करें अघकर्म से करें धर्म उपदेश ॥
तिन सबही को एक सम शिक्षा गुरु निरधार।
श्रद्धा भक्ति समेत नित करो शिष्ट व्यवहार ॥

वृद्धों का उचित सम्मान करना प्राचीन आर्य्य चरित्र का एक प्रधान गुण था । अभिज्ञता से उत्पन्न हुआ ज्ञान वृद्धों का सञ्चित धन है; वे बड़ी प्रसन्नता से नम्र शिक्षार्थियों को वही ज्ञान प्रदान करते हैं । परन्तु आज कल के आत्माभिमानी युवक वृद्धों के प्रति सम्मान दिखाने में विमुख देखे जाते हैं । इसी से विशेष यत्नपूर्वक इस गुण का अनुशीलन करना आज कल अत्यन्त आवश्यक है ।

* * * *

"न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि ।
सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये ॥ १८
ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियुक्तेन चात्मना ।
परिपश्यत्युदासीनं प्रकृतिं च हतौजसं ॥ १९
सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्ण रसायनाः कथाः ।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धारतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥ २५
भक्त्या पुमान् जातविराग ऐन्द्रियात्
दृष्ट श्रुतान्मद्रचनानुचिन्तया— ।
चित्तस्य यत्तो ग्रहणे योगयुक्तो—
यतिष्यते ऋजुभिर्योगमार्गैः ॥ २६
असेवयाऽयं प्रकृतेर्गुणानां
ज्ञानेन वैराग्यविजृम्भितेन ।
योगेन मय्यर्पितया च भक्त्या
मां प्रत्यगात्मानमिहावरुन्धे" ॥ २७

(श्रीमद्भागवत ३ । २५)

भक्ति सरिस भगवंत मे जो अखिलात्म निकेत ।
और न पथ कल्याण कर ब्रह्मसिद्धि के हेत ॥
भक्ति ज्ञान वैराग्य युत जभी आत्मा होय ।
प्रक्रिहीन अतिप्रकृति को उदासीन लख सोय ॥
सत संगति मिलती मन भाती । तभी मोक्ष की राह लखाती ॥
मम वीरज की कथा सुहाती । हृदय कर्ण सुखदायक आती ॥
श्रद्धा प्रेम भक्ति लहराती । अनुपम हिय मे छटा दिखाती ॥

भक्ति हुए विरती चित आती । चाह इंन्द्रियों की बिनसाती ॥
करता सृष्टि रहस्य विचारा । योग मार्ग संयत मन धारा ॥
त्रिगुणात्मिका प्रकृति को त्यागे । ज्ञान विराग वृद्धि अनुरागे ॥
मम गत भक्तियोग के द्वारे । प्रत्यगात्म मुक्त को नर धारे ॥

*   *   *   *

"स्वभावमेके कवयो वदन्ति
कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः ।
देवस्यैष महिमा तु लोके
येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्" ॥

...   .

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं देवतानां परमञ्च दैवतं ।
पतिं पतीनां परमं परस्तात्
विदाम देवं भुवनेश मीड्यं ॥ ७
न तस्य कार्य्यं करणञ्च विद्यते
न तत् समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्ति विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रियाच ॥ ८
न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके
न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गं ।
स कारणं करणाधिपाधिपो
न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥ ९

...   .

एको वशी निष्क्रियाणां बहूनां
　　एकं बीजं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा—
　　स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषां ॥ १२
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां
　　एको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तत् कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं
　　ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व्वपाशैः" ॥ १३

(श्वेताश्वतर ६ अः)

"स्वभाव ही है" कहते अनेक हैं । विमूढ़ कोई "यह काल" भाखते
सदा भ्रमाती इस ब्रह्म चक्र को । सुदेव की ही महिमा अनूप सो ॥

... ...

महान जो ईश्वर ईश्वरों में । महान जो देव सुदेवतों में ॥
पती सभी का सब से परे जो । लोकेश उसको हम नित्य जानें ॥
न कार्य्य उसका नहिं करण जानिये ।
न तुल्य उसकेऽधिक भी न मानिये ॥
उसे पराशक्ति विचित्र रूप औ ।
स्वभाव से ज्ञान बल क्रियादि हैं ॥
नहीं कोई है पति वा नियंता । न चिन्ह उस का प्रतिमा नहीं है
सर्वेन्द्रियों का पति सर्व्व मूल । उस का नहीं कारण और कोई ॥

... ...

वशीएक है निष्क्रियों का अनेकों । जो है बीज से ही अनेकों बनाता
उसे देखते आतमा में सुधीर । उन्हें ही सदानन्द औरों को है न ॥

जो नित्यों में है नित्य औ चेतनों में। जो चैतन्य है एक लाखों में पूरा।
वही सांख्य औ योग से गम्यहेतू । उसे जानते, पास से छूटते हैं॥

* * * *

"अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्व्वतो विद्रुते भयात् ।
रक्षार्थमस्य सर्व्वस्य राजानमसृजत् प्रभु: ॥३॥
इन्द्रानिल यमार्काणा मग्नेश्च वरुणस्यच ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रानिर्हृत्य शाश्वती: ॥४॥

... ...

तदर्थं सर्व्वभूतानां गोप्तारम् धर्म्ममात्मजं ।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत् पूर्व्वमीश्वर: ॥१४॥

× × × ×

दण्ड: शास्ति प्रजा:सर्व्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्ड सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्म्मं विदुर्बुधा: ॥१८॥

× × × ×

तस्याहु: सम्प्रणेतारं राजानं सत्यवादिनं ।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्म्मकामार्थकोविदं ॥२६॥
तं राजा प्रणयन् सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्द्धते ।
कामात्मा विषम: क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते ॥२७॥
दण्डोहि सुमहत्तेजो दुर्द्धरश्चाकृतात्मभि: ।
धर्म्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवं ॥"२८॥

(मनु। ७ अ:)

विन राजा सब ही प्रजा, चलती कुपथ हमेश ।
सकल लोक रचा निमित, विधि ने रचा नरेश ॥
सूर्य्य इन्द्र यम अग्नि पुनि, वायु वरुण रजनीश ।
धनाधीश मात्रा सहित, रचे ईश अवनीश ॥

... ...

तिस के हित सब लोक का, रक्षक धर्म्म स्वरूप ।
ब्रह्म तेजमय दण्ड को, विधि ने रचा अनूप ॥

× × × ×

दण्ड प्रजा शासन करे, दण्डहि पालनिहार ।
सब सोये जागे सदा, दण्डहि धर्म्म विचार ॥

× × × ×

धर्म्म अर्थ कामादि विद, सत्य परायण जौन ।
धारे नृपवर दण्ड को, प्राज्ञ विवेकी तौन ॥
सम्यक परिचालित किये, नृप-त्रिवर्ग अधिकाय ।
स्वेच्छाचारी नीच पुनि, दण्ड गहे विनसाय ॥
दुर्धर तेजोमय महा, दण्ड धरे नृप जौन ।
डिगे धर्म से बंधु सह, अवश नशाता तौन ॥

× × × ×

"तेन धर्म्मोत्तरश्चायं कृतो लोको महात्मना ।
रक्षिताश्च प्रजा: सर्व्वांस्तेन राजेति शब्द्यते ॥"१४५॥

(महाभारत। शान्तिपर्व्व। ७० अध्याय)

पूरण कर के धर्म से, सिरजा विधि ने भूप ।
परजा को रंजित किये, राजा नाम अनूप ॥

*   *   *   *

राजा प्रजानां हृदयं गरीयो
गतिः प्रतिष्ठा सुखमुत्तमञ्च ।
समाश्रिता लोकमिमं परञ्च
जयन्ति सम्यक् पुरुषा नरेन्द्र ॥५९॥
नराधिपश्चाप्यनुशिष्य मेदिनीं
दमेन सत्येन च सौहृदेन ।
महद्भिरिष्ट्वा क्रतुभिर्महायशाः ॥
त्रिविष्टपे स्थानमुपैति शाश्वतं ॥"६०॥

(महाभारत। शान्तिपर्व। ६८ अ:)

जो नृप प्रजा हृदय अधिकारी । लहै प्रतिष्ठा सुखगति सारी ॥
प्रजा जीत रन नृप बल पाके । उभय लोक पाती हरखाके ॥
महा यशस्वी नृपति सुजाना । कर धरणी-शासन मन-माना ॥
सौहृद सत्य और दमधारी । पाता स्वर्ग किये मख भारी ॥

*   *   *   *

"उपाध्यायान्दशाचार्य्य आचार्य्याणां शतं पिता ।
सहस्रन्तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥"

(मनु २ । १४५ ।)

उपाध्याय दश का सन्माना । पाता है आचार्य्य सुजाना ॥
शताचार्य्य बड़ पिता कहाता । सहस जनक से बड़ है माता ॥

*   *   *   *

"आचार्यश्च पिताचैव माता भ्राता च पूर्व्वजः ।
नार्त्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः ॥२२५॥
तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमंतप उच्यते ॥२२९॥

× × × ×

त एवहि त्रयी लोकास्त एव त्रय आश्रमा ।
त एव हि त्रयी वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः ॥२३०॥

× × × ×

सर्व्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः ।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्व्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥" २३४॥

(मनु २ अ:)

माता आचारज पिता, भ्राता पूर्व्वज कोय ।
दुःख यदपि देवें तऊ, नहीं अमानित होय ॥
ब्राह्मणही न विशेष कर, तजे कभी सन्मान ।
तिन में सेवा तीन की, परम तपस्या जान ॥
वेही तीनों लोक हैं वेही आश्रय तीन ।
वेही तीनों वेद पुनि तीन अग्नि मति पीन ॥

× × × ×

जिस से ये आदृत हुए, तीनों प्रेम समेत ।
वही पालता है सदा, सभी धर्म का सेत ॥

× × × ×

जो आदर करता नहीं, तिस की क्रिया अशेष ।
सब प्रकार से जानिये, होती अफल विशेष ॥

"ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति ।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते ॥१२०॥
अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्त आयुः प्रज्ञा यशोबलम् ॥"१२१॥

(मनु २ अ:)

ऊपर उठते वृद्ध लखि, युवा पुरुष के प्राण ।
अभ्युत्थान प्रणाम से, फिर आते निज थान ॥
अभिवादन सेवा करे, जो वृद्धों की पाय ।
तिस के बढ़ते चार ये, प्रज्ञा यश बल आय ॥

पञ्चम अध्याय।

बराबर वाले के प्रति व्यवहार।

एक परिवार और एक समाज के बराबर वालों में परस्पर के राग और द्वेष से जो गुण और दोष उत्पन्न होते हैं, उन का विचार करना उचित है। हम लोग चारों ओर बराबर वाले या समपदस्थ व्यक्तियों से निरन्तर घिरे हुए हैं। उन के साथ जिस तरह के आचरण से आपस में सच्ची सहानुभूति और प्रीति बढ़े— अनुकूलता और प्रेमभाव उत्तेजित हो कर साथ साथ द्वेष या घृणा दूर हो, इन्हीं सब विषयों की सिद्ध करना इस अध्याय का उद्देश्य है। जिन सब गुणों की बढ़ती और जिन सब दोषों के त्याग से हम लोग अपने कुटुम्ब और अपने अन्यान्य सम्बन्धियों के साथ सुख, स्वच्छन्दतापूर्व्वक कालयापन कर सकें, उन्हीं का विचार पहले करना चाहिए; क्योंकि जिस गृहस्थ के पवित्र और सुखमय गृह में पारिवारिक धर्म्म का पूर्ण रूप से सर्वदा प्रतिपालन होता है, वही सुखसमृद्धिशाली समाज, राज्य की असली नींव और जातीय अभ्युदय की जड़ है। पारिवारिक धर्म्म में माता पिता के प्रति उस की सन्तान के कर्त्तव्य के विषय में पहले ही कहा जा चुका है। यहां पति पत्नी, भाई बहिन, कुटुम्ब बन्धु और समाज के समपदस्थ (परिचित अपरिचित) लोगों के परस्पर के कर्त्तव्य का विचार किया जाता है।

हिन्दु शास्त्रों में आदर्श दाम्पत्य प्रेम की बहुत सी कथायें कही गई हैं। मनु ने कहा है "यो भर्ता सस्मृताङ्गना"—पति

पत्नी एक हैं; वे दोनों मिल कर पूर्ण एक हैं । प्रेम ही इन दोनों के एकत्व का साधक है; पति का पवित्र प्रेम ही स्त्री के लिए एक मात्र आवरण, पालन और आश्रय-स्थान है; स्त्री का प्रेम मधुर, त्यागशील और भक्तिपूर्ण है । इन दोनों के संयोग से ही मधुर दाम्पत्य प्रेम की एकाग्रता और एकप्राणता की उत्पत्ति होती है । इन दोनों का परस्पर विश्वास-बन्धन, अर्थात् परस्पर की पवित्र प्रीति आजन्म वर्त्तमान रहना उचित है । "अन्योन्यस्या व्यभिचारी भवेदामरणान्तिक: ।" दाम्पत्य प्रेम का एक मात्र उज्वल आदर्श श्री रामचन्द्र और सीता थीं । जीवन के सुख दुख को दोनों ने एक साथ भोगा । विपत्काल में वे दोनों सहमत हो कर कार्य्य किया करते; और एक दूसरे के दुख का भागी होते थे । जिस समय राम युवराज, और सीता युवराज्ञी थीं, उस समय वे दोनों एक संग भोग विलास करते । जब राम के राज्याभिषेक का समय आया, तब भी दोनों ने साथ ही साथ उपवास और संयम किया था । जब वनवास की आज्ञा उन के कानों में पड़ी, तब पहले सीता ने ही इस अघात को अविचल भाव से ग्रहण किया । श्री रामचन्द्र के निकट रहना ही उन की एकमात्र लालसा थी । इस के सामने दूसरा सुख दुःख तुच्छ और अग्राह्य था । राजसिंहासन पर बैठने में ही हो, या वन जाने में ही हो, सीता के लिए अपने पति राम के संग रहना ही सुखमय था, अन्यथा—उन की आंखों के बाहर सब दुख ही दुख था ।

सीता ने यह निश्चय कर लिया था, कि यदि रामचन्द्र वन गमन करेंगे, तो मैं भी उन के साथ जाऊंगी । उन ने कहा— "मेरा हृदय सब तरह से तुम्हारा ही है; मैं और कुछ नहीं जानती;

सदा से तुम्हारा आश्रय लिया है; यदि मुझे छोड़ कर जाओ, तो निश्चय प्राण दे दूंगी।" उन के लिए वन के कांटे कोमल वस्त्र की तरह सुख देने वाले और धूलिराशि चन्दन की रेणु के समान थे। स्वामी के निकट रहने से घास की चटाई भी राजा शय्या के समान कोमल और फल मूल ही राजा भोग के ऐसा प्रिय मालूम होता था। स्वामी के साथ रहना ही उन के लिए स्वर्ग और उन से अलग रहना ही नरक के समान था। जब तक रामचन्द्र ने उन्हें घर पर रहने का अनुरोध नहीं किया था, तब तक वह तनिक भी घबराई नहीं थीं। जब राम ने उन्हें अपने साथ वन ले चलना स्वीकार किया, उस समय उन के आनन्द की सीमा न रही; उस समय वह मारे आनन्द के अपने हाथों से अपने बहुमूल्य गहने और कपड़े उतार उतार दासियों को बाटने लगीं। इस तरह राजा भोग, वस्त्र और आभूषणादि को अनायास त्याग सीता अपने पति के साथ आनन्दपूर्व्वक वनवास की संगिनी हुईं।

वन में वह बालिका की भांति क्रीड़ा करती घूमा करती थीं; राजा सम्पदा के छोड़ने और वनवासिनी होने का तनिक भी उन के मन में दु.ख न था, क्योंकि वह अहर्निशि रामचन्द्र की संगिनी थी। उन का हृदय क्रीड़ा-आनन्द में रत था; इस से कोई यह न समझे कि उन की ज्ञान और बुद्धि का अभाव था। दण्डकारण्य में घूमते समय उन ने अपने स्वामी को अनेकों सारगर्भ मंत्रणायें दी थीं। जिस समय राक्षसराज; रावण उन को हर कर ले गया, उस समय रामचन्द्र ने दुखित चित्त से सीता को खोजते फिरते इस तरह विलाप किया था—"सीता! सीता! तुम कहां हो? क्या तुम छिप रही हो? क्या मेरे साथ हंसी करती हो?

शीघ्र आओ—तुम्हारी यह हंसी मुझे मृत्यु के समान मालूम हो रही है।" जब रामचन्द्र इस तरह विलाप करते चारों ओर सीता की खोजते फिरते थे, उस समय दुराचारी रावण सीता को पातिव्रत त्याग करने के लिए कभी लोभ, कभी डर दिखाता और कभी अपमान करता था; पर सीता की पतिभक्ति अविचल बनी रही। वह इतना ही कहा करतीं—"पति मेरे प्राण हैं; उन्हीं में मैं लवलीन हूं; कभी भी पातिव्रत से विचलित होने वाली नहीं। धन रत्न का मुझे लोभ नहीं। जैसे सूर्य्य की किरणें उस की ही हैं, वैसे ही मैं भी रामचन्द्र की ही हूं।"

अब सावित्री की कथा सुनिये। उन ने पातिव्रत के बल से यमराज को परास्त कर अपने मृत पति को पुनरुज्जीवित किया था। मद्रदेश के राजा अश्वपति ने देवताओं की बड़ी आराधना कर एक कन्यारत्न पाया था, जिस का नाम सावित्री था। वह देखने में सुवर्ण की प्रतिमा के समान, स्वभाव में मालती के मनोहर पुष्प के समान सुन्दर थी। लोग उन्हें देवी समझ कर उन की भक्ति करते थे। व्याहने योग्य होने पर उन के पिता ने उन्हें अपने योग्य वर ढूंढ़ लेने को कहा। पिता के आज्ञानुसार अपनी सहचरियों और पहरुओं के साथ वह वर खोजने को निकलीं। उन के लौट आने पर देवर्षि नारद उनके पिता के निकट उपस्थित थे। उन के सामने सावित्री अपने निश्चित पति की बात यों कहने लगीं— "शाल्व देश के वृद्ध और अन्धे द्युमत्सेन शत्रुओं से राज्यच्युत हो कर वन में इस समय वानप्रस्थ जीवन बिता रहे हैं; मैं ने उन्हीं के पुत्र सत्यवान को अपना स्वामीस्वरूप निश्चित किया है।" यह सुन नारद बोले "सावित्री ने अच्छा नहीं किया।" राजा ने पूछा "क्या सत्यवान सावित्री के उपयुक्त वर नहीं हैं? क्या उन के शरीर और मन में

बल नहीं है ? क्या वह क्षमा विहीन हैं, अथवा उन में क्षत्रियोचित पराक्रम नहीं है ?" नारद बोले, "उन में शौर्य्य, वीर्य्य, क्षमा, दया, दाक्षिण्य इत्यादि किसी गुण की भी कमी नहीं। सत्यवान सूर्य्य के समान प्रकाशमान और तेजस्वी, रन्तिदेव के ऐसा दयालु, शिवि के समान न्यायपरायण, ययाति की तरह उदार और पूर्णचन्द्र के सदृश सुन्दर हैं; पर ये गुणपुञ्ज एक वर्ष में पृथ्वी से अदृश्य हो जायेंगे।" सत्यवान का आयु बहुत कम है।"

देव ऋषी की बात सुन साविची हृदय सन्न होने पर भी बोलीं—"परन्तु 'मैं दे चुकी,' यह बात एक ही बार कही जाती है। मैं भी एक बार कह चुकी हूं, 'सत्यवान को आत्मदान किया,' अतएव दूसरा पति ग्रहण नहीं कर सकती।" नारद ने कहा, "राजन ! जब आप की कन्या विचलित नहीं होती, तो मैं ने इस विवाह में उन्हें आशीर्वाद दिया।"

द्युमत्सेन के आश्रम में तुरत दूत भेजा गया। प्रत्युत्तर में उन्हों ने अश्वपति को कहला भेजा—"आप के साथ कुटुम्बिता करने की बहुत दिनों से मेरी अभिलाषा थी; पर अपनी बिगड़ी अवस्था के कारण उस अभिलाषा को प्रगट नहीं कर सकता था। जब पुण्यवती साविची अपनी इच्छा से ही मेरे घर आ रही हैं, तब मैं यही समझता हूं कि लक्ष्मी स्वयं प्रसन्न हो कर मेरे घर पुनरागमन कर रही हैं।" अनन्तर यथारीति विवाह हो जाने पर साविची बड़े आनन्द से प्रासाद को त्याग कर तापसाश्रम को पधारीं, और तन मन वचन से अपने वृद्ध श्वसुर और स्वामी की सेवा करने लगीं। सब गृहकार्य्य को आनन्द के साथ अपने हाथों से सम्पन्न करने लगीं, और अपनी मधुर प्रकृति और सुधामय वचनों

से अपने पति का मन अपनी ओर खींच लिया । किन्तु इन सब सुखों के रहते भी सावित्री के हृदय में रात दिन अन्तर्दाह उठा करता था। नारद की बात ने उनके अन्तःकरण में जो तुषानल जला दिया था, वह ज्यों ज्यों वर्ष पूरा होता आता था, त्यों त्यों अधिक प्रकोप से उन के हृदय को गुप्त रूप से दग्ध करने लगा। वह हर घड़ी दिन गिना करतीं, अन्त को सत्यवान की मृत्यु का दिन निकट आया। जब केवल चार ही दिन शेष रह गये, तो उन ने देवताओं की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए तपस्या करने का संकल्प किया। बीच के तीन दिन तो उन ने उपवास और उपासना में बिताये; एक बिन्दु जल तक ग्रहण नहीं किया। चौथे दिन बड़े भोरे उठ नित्य क्रिया सम्पन्न कर उन ने गुरु जनों के चरणों की वन्दना की । तपोवन के सब मुनियों ने उन को आशीर्वाद दिया कि तुम्हें कदापि वैधव्य यन्त्रणा भोगनी न पड़ेगी। उस दिन जब सत्यवान कुल्हाड़ी ले लकड़ी लाने के लिये वन की ओर चले, तो वह भी उन के साथ चलीं। सत्यवान ने आश्चर्य से पूछा कि तुम कहां जाओगी ? उन ने कहा कि आज मेरी इच्छा आप के साथ चलने की हुई है। उन दोनों ने साथ साथ पर्व्वत, नदी और वन की शोभा तथा कानन-विहारी पशु, पक्षियों को देखते २ गहन वनमें प्रवेश किया।

सत्यवान ने अपना नित्य का काम आरम्भ किया; वन फल चुनने के उपरान्त लकड़ी बटोरने में लगे । इसी समय हठात् उन का शरीर सन्न हो गया; सिर में भयंकर पीड़ा होने लगी और पीड़ा की बात कहते २ गिर पड़े। सावित्री उन के सिर को अपनी गोद में रख भग्नहृदय हो वहां बैठ गईं । अकस्मात् उन ने देखा कि एक राज-श्री-सम्पन्न, रक्ताम्बर पहने, कर्णाोज्ज्वल, भीषण मूर्त्ति

दीप्तिमान नेत्रों से स्थिरता पूर्व्वक उन के बगल में खड़ा हुआ सत्यवान की ओर ताक रहा है । उस को देख कर सावित्री धीरे धीरे स्वामी के सिर को भूमि पर रख प्रणामपूर्व्वक खड़ी हो गईं । उस समय उस महा पुरुष ने कहा, "सत्यवान का जीवन-काल शेष हो गया; मैं मृत्युपति यम हूं । ये अत्यन्त धार्म्मिक थे, इसी लिए दूत के बदले मैं स्वयं इन को लेने के लिए आया हूं ।" यह कह सत्यवान के स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर को ले कर दक्षिण ओर जाने लगे । सावित्री भी उन के पीछे पीछे चलीं । यम ने कहा, "सावित्री ! अब बस करो, तुम लौट जा कर सत्यवान का उर्द्ध-दैहिक कार्य्य सम्पन्न करो । तुम्हारा कर्त्तव्य समाप्त हुआ । मनुष्य जितनी दूर आ सकता है, तुम उतनी दूर तक स्वामी की अनुगामिनी हुई ।" सावित्री ने कहा, "स्वामी जहां जांयगे मैं वहीं जाऊंगी । यही सनातन दाम्पत्य धर्म्म है । यही पति पत्नी का नित्य सम्बन्ध है । यदि तन, मन और वचन से मैं पति परायणा हूं, यदि भक्ति भाव से गुरुजनों की मैं ने पूजा की है, यदि व्रतोप-वासादि का कोई फल है, तो आप की कृपा से मेरी गति अव्याहत बनी रहेगी ।" यह कह सीधा-स्वभाव बच्चे की तरह बड़ों के उपदेशानुसार और अपने ज्ञान से उत्पन्न धर्म्मोपदेश की इस प्रकार आवृत्ति करन लगीं कि, "विश्वासी औरसत्यनिष्ठ हो कर गार्हस्थ धर्म्म-पालनपूर्व्वक मैं ने जो धर्म्म और ज्ञान प्राप्त किया है, हे मृत्युपति ! मेरा वह पथ मत रोको और मुझे पूर्व्व सञ्चित फल से वञ्चित मत करो ।" यम बोले, "तुम ज्ञानवती और विचारशक्ति—सम्पन्ना हो, तुम्हारी बात बड़ी मीठी है; मैं प्रसन्न हुआ हूं, अपने पति के पुनर्जीवन को छोड़ दूसरा वर मांगो ।" सावित्री ने कहा, "महाराज!

मेरे श्वसुर अंध हो गये हैं, आप की कृपा से उन्हें आंख हो जाय।" यम बोले "हे सर्वसुलक्षणे ! तुम्हारा अभीष्ट वर मैं ने दिया, अब लौट जाओ।" सावित्री ने कहा "स्वामी जहां जायगे मैं भी वहीं जाऊंगी। संतसंग का फल अच्छा होता है, हे मृत्यु पति ! आप के ऐसा साधु पुरुष दूसरा कौन है ? अतएव आप के साथ मैं यदि अपने पति की अनुगामिनी होऊं, तो यह अशुभजनक कदापि नहीं हो सकता।" यम ने कहा, "इस का फलस्वरूप दूसरा वर देता हूं, लो; पर अपने पति के जीवन के अतिरिक्त और कोई वर मांगो।" सावित्री ने कहा, "आप की कृपा से मेरे श्वसुर अपना गया हुआ राजा प्राप्त करें।" यम ने कहा, "वह अपना राजा फिर पावेंगे, अब घर जाओ, और मेरे साथ मत आओ।" परन्तु सावित्री मीठे वचनों से उन की प्रशंसा करती हुई उन के साथ साथ चलीं और अपने पिता और अपने को सौ पुत्र पाने का दो वर और प्राप्त किया। जब चौथा वर मिला तब वह धर्म्मनिष्ठा, कर्त्तव्य पालन इत्यादि की प्रशंसा करने लगीं। अन्त में यम ने उन की वाचालुता तथा तेजस्विता से मुग्ध हो कर और एक वरदान दिया। इस तरह सावित्री ने उन से अपने स्वामी का जीवन प्राप्त किया। क्योंकि यदि उन के पति को यम ले जाते तो धर्म्मपथ त्यागने के सिवा और कोई उपाय उन के पुत्रलाभ का नहीं था। इस प्रकार पातिव्रत धर्म्म के पालन के प्रभाव से सावित्री ने मृत्युपति यमराज के हाथ से अपने स्वामी का उद्धार किया। भगवान ने इस से यह दिखाया कि पतिव्रता के तेज के सामने यम को भी हतबुद्धि होना पड़ता है।

आर्य्य बालक नल दमयन्ती की कथा कभी भूल नहीं सकते।

वीरसेन के पुत्र नल निषाधों के राजा थे । दमयन्ती विदर्भ-राज भीमसेन की कन्या थीं। साक्षात् होने के पूर्व ही लोगों के मुंह से एक दूसरे के गुण की प्रशंसा सुन दोनों के हृदय में अनुराग का संचार हुआ था । दमयन्ती के स्वयम्बर के समय इन्द्र, अग्नि, वरुण, यम प्रभृति देवता लोग भी उन के अनुपम गुण से आकृष्ट हो कर उन के पाणिग्रहण की अभिलाषा से स्वयम्बर सभा में उपस्थित हुए थे। पर दमयन्ती ने राजा नल को ही अपना पति बनाया। विवाह के उपरान्त ग्यारह वर्ष पर्यन्त उन लोगों ने एक साथ परम सुख से राज्य भोग किया। इस अवसर में उन्हें एक पुत्र और एक कन्या हुई। बारहवें वर्ष नल को उन के भाई पुष्कर ने पाशा खेलने के लिये बुलाया। नल उस खेल में बराबर हारते ही गये। क्रमशः पुष्कर ने उन की सब सम्पदा, राज पाट, यहां तक कि पहनने के कपड़े लत्ते भी जीत कर अन्त में शरीर ढांपने के लिए एक धोती मात्र छोड़ उन्हें राज्य त्यागने को बाध्य किया। दमयन्ती भी अपने दोनों बच्चों को अपने पिता के घर भेज केवल एक साड़ी शरीर पर रख नल के साथ चलीं। भूख प्यास से व्याकुल हो कर वे दोनों नगर के बाहर २ घूमने लगे । एक दिन नल ने अपनी धोती पक्षियों को पकड़ने के लिए फेंका, पर वे धोती सहित उड़ गये। तब से दोनों एक ही वस्त्र पहने घूमने लगे । दमयन्ती को भूख प्यास से बचाने के लिए नल ने उन्हें कई बार उन के पिता के घर जाने के लिये कहा; पर दमयन्ती किसी तरह भी उन को छोड़ जाने पर सहमत न हुईं। इसी तरह घुमते फिरते एक दिन दमयन्ती थक जाने पर एक वृक्ष के नीचे सो गईं। उस समय राजा नल मन हीं मन यह विचारने लगे कि दमयन्ती को यहां छोड़ कर मेरे चले जाने पर यह अवश्य ही अपने पिता के घर

चली जायगी, जिस से इन का दुख मिट जायगा। यह सोच कर अपने तलवार से उस लपेटे हुए कपड़े को दो टुकड़ा कर एक आधे से दमयन्ती का देह ढांक दूसरा आधा आप पहन वहां से दुख में उन्मत्त पागल सा चल दिये। निद्रा भंग होने पर दमयन्ती ने जब देखा कि नल पास नहीं हैं, तो उन के दुःख की सीमा न रही। अपने दुःख की अपेक्षा नल को कितना अधिक दुख होता होगा यह सोच व्याकुल हो कर अपने स्वामी को खोजने लगीं; पर उन का पता कहीं न लगा। घूमते २ उन पर एक भयङ्कर अजगर ने आक्रमण किया। वह और अन्यान्य दुख भोगती हुई किस प्रकार चेदी राजा की कन्या के आश्रम में जा कर रहीं थीं; वह सब विस्तारपूर्वक नलोपाख्यान में लिखा हुआ है। इधर नल अग्निजाल से घिरे हुए एक सर्प को निकाल उस की सहायता से अपनी आकृति को बिगाड़ अयोध्याधिपति महाराज ऋतुपर्ण के यहां सारथी हुए। इस तरह नल दमयन्ती दोनों बिछुड़ गये। यहां राजा भीमसेन ने अपनी कन्या और जमाता की खोज में चारो ओर ब्राह्मण दूत भेजा। खोजते २ सुदेव नाम के दूत की चेदीराज के प्रासाद में दमयन्ती स भेंट हुई। तब प्रगट हुआ कि चेदीराज की स्त्री दमयन्ती की मौसी है। दमयन्ती की और कुछ दिन अपने घर में रखने के लिए उन की मौसी ने बहुत चाहा; पर दमयन्ती का मन अपने स्वामी की चिंता से अत्यन्त व्याकुल हो रहा था। अतएव वह वहां बिलम्ब न कर अपने पिता के घर शीघ्र चली आईं। नल की खोज में फिर दूत लोग चारो ओर छूटे। इन दूतों को दमयन्ती ने एक संकेत ऊंचे स्वर से कहने के लिए सिखला दिया था, जिसे नल

के सिवा और कोई नहीं समझ सकता था। यह संकेत नल का अपनी प्रियतमा, वियोग-विह्वला दमयन्ती के साथ फिर मिलने का अनुरोध-सूचक था। दूतों के बहुत खोजने पर अन्त को पर्णाद-नामक एक दूत के अयोध्या पहुंचने पर दमयन्ती के निर्दिष्ट संकेत करने पर, अयोध्याधिपति ऋतुपर्ण का वाहुक नाम का सारथी पतित्यक्ता, पतिव्रता अनेकों स्त्रियों की कथा उस दूत के निकट कातर स्वर से वर्णन करने लगा। पर्णाद के इस सम्वाद को सुनते ही दमयन्ती को मालूम हो गया कि यह सारथी छद्म वेशधारी नल ही हैं और उन को विदर्भ देश बुलाने का उपाय सोंचा। दमयन्ती ने उस दूत को फिर एक बार अयोध्या जा कर, यह बात राजा ऋतुपर्ण को जनाने के लिए कि कल ही दमयन्ती का पुन: स्वयम्बर होगा, भेजा। दमयन्ती जानती थी कि अयोध्या से विदर्भ एक दिन में रथ हांक कर ले जाय, यह नल छोड़ कर और किसी की सामर्थ नहीं। दमयन्ती ने जो सोचा था वही हुआ। ऋतुपर्ण के आज्ञानुसार वाहुक उपयुक्त बढ़ियां घोड़े जोत उसी दिन संध्या के पूर्व ही क्षुब्धचित्त से विदर्भ आ पहुंचे, पर स्वयंम्बर कहां? सब ही झूठ; केवल नल को विदर्भ बुलाने के थे दमयन्ती के सब कौशल थे। नल को दमयन्ती के इस कौशल से प्रगट होना पड़ा, वह अपने पुत्र और कन्या को देख रो दिये। उनका रसोई बनाना भी उन के प्रगट होने का कारण हुआ। अंत में पति पत्नी का फिर मिलन हुआ और फिर राज्य प्राप्त कर सन्तान संतति से पूर्ण हो अत्यन्त सुख से जीवन विताने लगे।

जो स्त्री यथार्थ पातिव्रत अवलम्बन कर पति की सेवा में समय विताती है उस को जैसी आध्यात्मिक उन्नति और ज्ञान की प्राप्ति होती

है, वैसी कठोर तपस्या से भी दूसरा नहीं पा सकता। प्राचीन समय में कौशिक नाम के किसी ब्राह्मण ने बड़ी तपस्या की थी। एक समय वह किसी वृक्ष के नीचे बैठ कर ध्यान लगा रहे थे कि इतने में एक बगुले ने उन के सिर पर बीट कर दिया। तप के बल से कौशिक में इतना तेज सञ्चित हुआ था कि क्रुद्ध हो कर बगुला की ओर देखते ही वह भस्म हो गया। कौशिक वक की मृत्यु से दुखी तो हुए, पर अपना तप-प्रभाव देख कर बड़े प्रसन्न हुए। इस के बाद जब वह भिक्षार्थ नगर की ओर निकले तो एक ब्राह्मण के घर जा कर भिक्षा मांगी। ब्राह्मणी उन के लिए घर से कुछ खाने को लाने के लिए भीतर जा ही रही थी कि इतने में उस का पति थका और धूली से धूसर बना हुआ आ पहुंचा। लाचार ब्राह्मणी ने कौशिक को तनिक ठहरने को कह अपने स्वामी की सुश्रूषा में लगी; किन्तु अधिक विलम्ब होता देख कौशिक को क्रोध हुआ। अन्त में जब ब्राह्मणी भिक्षा ले कर बाहर आई तो कौशिक क्रोधपूर्ण नेत्रों से उस की ओर देख कर बोले, "मैं ब्राह्मण हूं; मेरी अवज्ञा कर तू ने इतना विलम्ब क्यों किया?" ब्राह्मणी ने मीठे स्वर से कहा "हे विप्र, स्वामी की सेवा ही मेरा प्रधान और प्रथम कर्तव्य है। आप क्रोध को रोकने और क्षमा करने का अभ्यास कीजिए। मेरी ओर क्रोधदृष्टि मत कीजिए। इस से आप का ही अनिष्ट होगा। मैं बगुला नहीं हूं।" यह सुन कर कौशिक काठ हो गये, और इस परोक्ष ज्ञान का कारण उस से पूछने लगे। ब्राह्मणी बोली "मैं ने तपस्या से यह आध्यात्मिक शक्ति नहीं पाई है; केवल एक चित्त से पति की सेवा ही मेरा जप तप है। गृहस्थ को अपने कर्त्तव्यपालन से जो पुण्य का फल प्राप्त होता है, यदि आप उस के विषय में अधिक जानना चाहते हैं, तो शीघ्र

मिथिला जा कर धर्म्मव्याध से भेंट कीजिए ।" कौशिक तुरत मिथिला की ओर चले और वहां पहुंच कर देखा कि व्याध क्रय विक्रय में व्यस्त है । वह कौशिक को देखते ही उठ कर प्रणामपूर्व्वक बोला "मैं समझ गया कि उस पतिव्रता स्त्री ने आप को मेरे निकट भेजा है । मैं आप का सब सन्देह दूर करूंगा और यह भी बता दूंगा कि मैं किस उपाय से यह शक्ति प्राप्त की है ।" इस के पीछे वह उन को अपने पिता माता के निकट ले गया, जिस की कथा महाभारत में लिखी हुई है

श्री रामचन्द्र और उन के भ्राताओं के परस्पर का व्यवहार भ्रातृ-स्नेह का एकमात्र उज्ज्वल दृष्टान्त है । लक्ष्मण, रामचन्द्र के जीवन-स्वरूप थे । वे दोनों जब तक साथ न होते, न सोते न खेलते थे ; एक दूसरे को बिना देखे एक क्षण भी नहीं रह सकते थे । जब लक्ष्मण राम के साथ बनवास में थे उस समय अर्द्ध रात्रि को रामचन्द्र के सो जाने पर लक्ष्मण निद्रा त्याग रात भर कुटी के द्वार पर पहरा दिया करते थे । सीता की खोज में लक्ष्मण रामचन्द्र के साथ पहाड़, कन्दरा और वन में घूमते फिरते थे । लङ्का के युद्धस्थल में लक्ष्मण के मूर्च्छित होने पर रामचन्द्र ने कातर स्वर से कहा था—"जब शक्तिवाण लगने से लक्ष्मण गिर गये तो अब युद्ध का क्या प्रयोजन ? इस जीवन का ही क्या प्रयोजन ? भाई ! तुम मुझे छोड़ कर स्वर्ग पहले क्यों चले गये ? तुम्हारे बिना मेरा जीवन, जयश्री, यहां तक कि जानकी भी मेरे निकट व्यर्थ हैं ।"

भ्रातृप्रेम और भ्रातृसहयोगिता से जो वंश का गौरव और सम्पद की वृद्धि होती है, पाण्डवों का जीवनचरित्र इस का ज्वलमान दृष्टान्त है । केवल अकपट सौभ्रात्र के बल से ही

उन लोगों ने अनेकों प्रकार के दुःख और विघ्न बाधाओं को अतिक्रम कर अन्त में अतुल ऐश्वर्य्य प्राप्त करने में समर्थ हुए थे। क्या सम्पद, क्या विपद, क्या राजभोग, क्या बनवास, क्या द्रौपदी के प्राप्त करने, क्या उन के अपमानित होने, क्या राजसूय यज्ञ, क्या अज्ञातवास में, हम लोग कभी भी पांचों भाई पाण्डवों को स्वार्थ के लिए परस्पर विरोध वा प्रतिद्वन्द्विता करते, अथवा एक दिन के लिए भी स्वतंत्र रहते, नहीं पाते हैं। युधिष्ठिर समस्त परिवार के कर्त्ता, सब के पोषक और नियन्ता थे। वह वंश के स्तंभस्वरूप थे। उन के अनुज सब प्रकार से उन की ही धन सम्पत्ति बढ़ाने के लिए व्यस्त रहते थे; उन के लिए उन लोगों ने युद्ध किया था, उन के लिए ही दिग्विजय, राज्यविस्तार और ऐश्वर्य्यसंग्रह किया था। अर्जुन की कठोर तपस्या और उस से भी कठोर युद्ध द्वारा दिव्यास्त्र की प्राप्ति, सब उन के ही लिए थीं। युधिष्ठिर भी उसी तरह हर घड़ी उन लोगों के सुख शान्ति के लिए व्यस्त रहा करते थे। स्वर्ग जा कर भी अपनी पत्नी और भाईयों को देखने के लिए वह व्याकुल हुए थे; बार बार सुरलोक-वासियों से कहते थे—"मेरे भाई सब जहां हैं, मैं भी वहीं जाऊंगा।" देवलोक में अपने भाईयों को न देख कर युधिष्ठिर ने कहा था—"भाईयों के बिना मेरे लिए स्वर्ग में भी सुख नहीं। वे सब जहां हैं, मेरा स्वर्ग भी वहीं है; मेरा स्वर्ग यहां नहीं है।" जब अन्त में देवताओं ने दूत के साथ उन के भाईयों के निकट उन्हें भेज दिया, तो स्वर्ग त्याग कर वह दूत के साथ घोर अन्धकारमय पथ में चले; क्रमशः आकाश तथा पथ और भी घोर अन्धकारमय होने लगा। वह पथ सड़े हुए जीवों के दुर्गन्ध से भरा, वीभत्स वस्तुओं से परिपूर्ण, अनेक विकट

रूपों से घिरा हुआ, हड्डियों से भरा और रक्तमय था। पैरों के नीचे असंख्य मुरदों की लोथें, नोकीले कांटे और पत्ते उन का मार्ग रोक रहे थे। अत्यन्त तप्त बालू और जलता हुआ लोहा से पैर जलने लगे। यह देख युधिष्ठिर ने विस्मित हो देवदूत से पूछा "कहां लाये?" देवदूत ने कहा—"मैं आप को यहीं लाने के लिए कहा गया हूं। यदि आप को क्लेश होता हो तो लौट जा सकते हैं।" युधिष्ठिर ने देखा कि उन के भाई सब ऐसे स्थान में रखने के योग्य नहीं, यह सोच ज्योंहीं वह लौट जाने पर थे कि बहुतेरे आर्तनाद उन के कानों में पड़े। सब करुण स्वर से कहने लगे कि आप यहां थोड़ी देर और ठहर जांय। उन्हीं ने पूछा "तुम लोग कौन हो?" चारो ओर से कातर स्वर में उत्तर आने लगा, "मैं कर्ण," "मैं भीम," "मैं अर्जुन," "मैं नकुल," "मैं सहदेव," "मैं द्रौपदी," "हम द्रौपदेय हैं"। युधिष्ठिर अपने भाईयों की यह दशा देख क्षुब्धचित्त हो देवदूत से बोले "तुम जिन के दूत हो, उन के पास जाओ; उन से कहो कि मैं अब वहां न जाऊंगा, यहीं रहूंगा। मेरे भाई लोग जहां हैं, मेरा स्वर्ग भी वहां ही है।" यह कहते ही दशो दिशायें दिव्य गन्धों से पूर्ण हो गईं; चारो ओर पवित्र गन्ध से सुवासित सुगंधित वायु आकाश को आनन्दित करने लगा और दिव्य ज्योति से दिगन्त चमक उठा; चारो ओर से देवताओं ने आकर युधिष्ठिर को घेर लिया। इस का कारण यह था कि नरक की अपेक्षा स्नेह सहस्र गुण बलवान है; प्रेम के सामने क्या कोई दुख मालूम होता है? नीचे के कई श्लोकों में स्वजन के प्रति परस्पर का शिष्टाचार संक्षेप रूप से वर्णन किया गया है।

"न पाणिपाद चपलो न नेत्र चपलोऽनृजुः ।
न स्याद्वाक्चपलश्चैव न परद्रोह कर्मधीः ॥
... ...
ऋत्विक्पुरोहिताचार्य्यैर्मातुला तिथि संश्रितैः ।
बालवृद्धातुरैः वैद्यैर्जाति सम्बन्धि बान्धवैः ॥
मातापितृभ्यां यामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्य्यया ।
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ॥"

(मनु ६)

"हस्त पाद वच नेत्र से, तजो चपलता भाव ।
रहो सदा तज कुटिलता, अरु परद्रोह सुभाव ॥
... ...
मामा ऋत्विक अतिथि मुनि बालक आश्रित आदि ।
वृद्ध पुरोहित वैद्य से कीजे नहीं विवादि ॥
कीजे नहीं विवाद जिन्हें रोगी लख पाइये ।
जाति कुटुम्बी बन्धु पुत्र से सदा बचाइये ॥
भार्य्या कन्या दास सभी अपने सुखधामा ।
पूजित माता पिता यथा वैसेही मामा ॥

उपसंहार में मनु ने फिर कहा है —

"भ्राता ज्येष्ठः समः पित्रा भार्य्याः पुत्रः स्वका तनुः ।
छाया स्वदासवर्गश्च दुहिता कृपणं परं ॥
तस्मादेतैरधिक्षिप्तः सहेतासंज्वरः सदा ॥"

पिता सरिस भाई बड़ा भार्य्या सुत निज अङ्ग ।
दास वर्ग छाया सरिस सुता दीनता संग ॥

ये सब जो अज्ञान बस करें मन्द व्यवहार।
विचलित होना है नहीं उचित किये सुविचार॥

पतिव्रता स्त्री के विषय में मनु ने कहा है—

"प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥
उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनं ।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्री निबन्धनं ॥
अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह ॥
पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता ।
सा भर्तृलोकानाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥"

(मनु ११।२९)

पूजनीय गृह दीप्ति सी उत्पादक सन्तान ।
गृह में स्त्री श्री एक सी भेद न इन्हें महान॥
उत्पादन सन्तान का औ जन्मे का त्राण ।
निर्वाहन संसार का नारि हाथ में जान ॥
स्वर्ग पितर की आप की सेवा रति सुख हेतु ।
सकल नारि के हाथ सुत और धर्म का सेतु ॥
काय वचन मन से सदा जो न करे अपकार ।
निज पति का पाती वही नारि स्वर्ग का द्वार ॥

फिर भी —

"एतावानेव पुरुषो यज्जायात्मा प्रजेति ह ।
विप्राः प्राहुस्तथा चैतत् यो भर्ता सः स्मृतांगना ॥"

(मनु ९।४५)

पुरुष एक है सकल मिलि जाया अरु सन्तान।
कहै विप्र जो नारि सोई भर्त्ता निश्चय जान ॥

यह भाव कैसा मधुर है। समस्त परिवार एक ही है; एक ही प्राण से अनुप्राणित है। यही पारिवारिक स्नेह धर्म्म की मूल भीत्ति है। इस लिए हिन्दू समाज में विवाह-बन्धन अच्छेद्य रखा गया है। पिता, माता, सन्तान सब मिल कर गृहस्थ कहलाते हैं; एक दूसरे को अपने समान प्यार करते हैं; जिस से एक सुखी होता है, सभी उसी से सुखी होते हैं। एक के आनन्द से सब को आनन्द और एक के दु:ख से सब को दु:ख होता है। जिस तरह जीवात्मा अपने देह के अङ्ग प्रत्यङ्गों की रक्षा और पुष्टि करने में लगा रहता है, गृहस्थ को भी उसी तरह अपने अङ्ग प्रत्यङ्ग, पुत्र कलत्र और परिवार की विशेष रूप से रक्षा और पालन पोषण करना उचित है। किसी एक गृहस्थ का परिवार एक छोटा सा संसार है; सब सद्गुणों का अनुष्ठान एक परिवार में हो सकता है; सब तरह से बड़ों के प्रति जो व्यवहार होता है वही पिता माता के साथ हो सकता है; बालक बालिकाओं को परस्पर व्यवहार के द्वारा बराबर वालों के साथ जो व्यवहार सब तरह से होना चाहिए उस का अभ्यास कराया जा सकता है; सन्तान और नौकरों के साथ के व्यवहार से सब तरह के छोटे व्यक्तियों के प्रति जो व्यवहार उचित है, उस की शिक्षा मिल सकती है। इसी तरह बालकों के अपने परिवारस्थ लोगों के साथ सब तरह से सद्गुणों का आचरण करने से, भविष्यत में वे इन्हीं सब सद्गुणों का आचरण समाज और संसार के और लोगों के साथ करने में समर्थ होंगे। जो समाज और देश का मुख उज्ज्वल करने की अभिलाषा रखते हैं, उन्हें उचित है कि जिन

सद्गुणों का व्यवहार भविष्यत में करना चाहिए बालावस्था से ही अपने २ घर में उन को शिक्षा और अभ्यास करना आरम्भ कर दें।

अपने परिवार के बाहर जो सब सद्गुण का व्यवहार करना उचित है उन में अतिथि-सत्कार सब से श्रेष्ठ है। आर्य लोग इस को कितना आवश्यक समझते थे यह महाभारत के अर्धस्वर्णाङ्ग नकुल की कथा से स्पष्ट होता है। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के समय इस नकुल ने घूमते२ यज्ञ सभा में उपस्थित हो यह देखा कि सभा के तोरण, यूप और यज्ञ-पात्र सब सोने के हैं; असंख्य याचक इच्छानुसार धन रत्नादि ले रहे हैं; कोई उन्हें रोकता नहीं। ऐसा असीम और उदार दान देख कर भी नकुल ने कहा कि इस यज्ञ के दान की अपेक्षा उस दरिद्र ब्राह्मण का एक मुट्ठी सत्तू देना अधिक पुण्यप्रद था। यह कह कर वह उस दरिद्र ब्राह्मण का दान-वृतान्त यों कहने लगा। "एक दरिद्र ब्राह्मण उञ्छ वृत्ति से अन्न सञ्चय कर बड़े कष्ट के साथ अपनी स्त्री, पुत्र, पतोहू और अपने प्राण की रक्षा करता था। एक समय ऐसा भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा कि गृहस्थों को अपने खेत में थोड़ा भी अन्न छोड़ना कठिन हो गया। जो ही दो चार दाने छूट जाते उन्हें ही इकट्ठा कर वह ब्राह्मण अपने परिवार के सहित बड़े दुःख से आधा पेट खा कर दिन काटता था। अतएव अन्नाभाव से वह और उस के परिवार दिनो दिन जीर्ण शीर्ण हो गये। एक दिन बड़ी कठिनता से बहुत थोड़ा यव इकट्ठा करने पर उन की स्त्री ने उसे पीस कर उस का चार भाग किया। उसे सब खाने ही को थे कि इतने में एक अतिथि उन के द्वार पर आ खड़ा हुआ। ब्राह्मण ने तुरत उठ कर उन्हें बैठने के लिए आसन और पैर धोने के लिए

जल दे, भोजन करने के लिए अपना अंश अर्पण किया। अतिथि ने खाया तो सही; पर उस से उस की क्षुधा निवृत न हुई। यह देख उस की स्त्री ने अपना अंश भी ला कर अतिथि को दे देने को कहा; ब्राह्मण ने कहा 'तुम दुर्बल हो गई हो, तुम्हारा शरीर कांप रहा है, तुम अपना अंश जल और अन्न रहने दो, तुम्हारे बिना यह घर उजड़ जायगा।' पर स्त्री के अनुरोध से ब्राह्मण उस का अंश भी अतिथि को दे देने के लिए बाध्य हुए। परन्तु इस से भी अतिथि की भूख न मिटी। तब ब्राह्मण के पुत्र ने भी अपना अंश ला कर अतिथि के सामने रख दिया, किन्तु उस से भी क्षुधा की शान्ति न हुई। अन्त में पुत्रवधू ने भी अपना अंश उन को अर्पण कर दिया; किन्तु इस बालिका का अंश देने से ब्राह्मण को बड़ा दुःख हुआ। इस पर पुत्रवधू बड़ी नम्रता से बोली 'मुझे आतिथ्यधर्मपालन से विमुख न कीजिये। अतिथि देवतास्वरूप हैं। उन को मेरा भोजन दे कर सन्तुष्ट कीजिये।' पुत्रवधू के इस आग्रह-विनय से ब्राह्मण ने सजल नेत्र उस के अंश को भी अतिथि के सामने रख दिया। अतिथि भी आनन्दपूर्वक सब खा गये। भोजन करने पर अतिथि खड़े हुए तो उन का सारा शरीर दिव्य ज्योति से झलकने लगा; सबों ने देखा कि सामने धर्मराज खड़े हैं। नकुल कहता चला कि अतिथि के जूठे भोजन पात्र में जो दो चार दाने लगे रह गये थे उसी में मैं लोट पोट हो गया। उसी यज्ञ के महात्म से मेरा आधा अंग सोने का हो गया है। अतिथिसत्कार का ऐसा ही महात्म है कि सामान्य यव के कण में भी ऐसी अद्भुत शक्ति हो गई थी।

एक समय कोई व्याध निविड़ बन में प्रवेश करने पर प्रचण्ड आंधी से आक्रान्त हुआ। प्रबल वारिधारा से सारा पथ और प्रान्तर

डूब कर तालाब और नदी का आकार धारण कर लिये। ऊंचे स्थानों पर भालू सिंहादि हिंसक जन्तुओं ने आश्रय लिया। शीत और डर से कम्पायमान होकर भी वह व्याध अपना निष्ठुर स्वभाव भूल न सका। थोड़ी ही दूर पर आंधी से झटका खा कर गिरी हुई शीत से कांपती एक कपोती को देख कर उस ने उसे पकड़ अपनी स्वाभाविक नृशंसता से अपने पिञ्जड़े में रख छोड़ा। अन्त को वह घूमता घामता एक बड़े वृक्ष के नीचे पहुंचा। इस वृक्ष को शाखाओं पर अनेकों पक्षी रहते थे। संसार को भलाई चाहने वाले श्रेष्ठ मनुष्यों की तरह अनेक जीवों के आश्रयस्वरूप उस वृक्ष को भगवान ने वहां स्थापित किया था। व्याध ने उस वृक्ष के नीचे आश्रय लिया। क्रमश: मेघ हटा, आकाश साफ हुआ, तारे चमकने लगे; पर व्याध का घर बहुत दूर होने के कारण उस से उस रात घर जाना पार नहीं लगा। उस ने उसी वृक्ष के नीचे रात काटना निश्चय कर लिया। जब व्याध वृक्ष के नीचे लेटा हुआ था, तब उस ने कपोत की दुख से यह कहते सुना कि "हा प्रिये! तुम कहां हो? अब तक लौटी क्यों नहीं? न मालूम तुम्हें क्या विपत्ति पड़ी? यदि मेरी कपोती न लौटे तो मेरा जीना व्यर्थ है; गृह गृह नहीं है, गृहिणी ही गृह है।" सचमुच गृहिणी के बिना 'यथारण्यं तथा गृहं'। मेरे खा लेने पर वह खाया करती, मेरे स्नान करने के बाद वह स्नान करती, मेरे आनन्द से आनन्दित और मेरे दुःख से दुःखित होती। मेरे रुष्ट होने पर वह मीठी २ बातों से मुझे प्रसन्न करती। ऐसी स्त्री के अभाव से मेरा जीवन शून्यमय जान पड़ता है। ऐसी स्त्री के अभाव से राजप्रासाद भी अरण्य मालूम होता है। स्त्री ही स्वामी के जीवन

की विश्वस्त संगिनी और प्रकृत सहधर्म्मिणी है ; सुख दुःख में, लाभ हानि में, उस के ऐसा सुहृद और कोई नहीं। स्त्री ही पति की गृहलक्ष्मी—सब धन से बढ़ कर धन है। जीवन के सब कामों में स्त्री ही स्वामी की एकमात्र सहयोगिनी है। स्त्री ही सब तरह के मानसिक रोगों की महौषधि है । स्त्री के समान मित्र नहीं, स्त्री के समान आश्रय नहीं ।"

स्वामी के इस विलाप को सुन पिञ्जड़े में बन्द कपोती मन ही मन कहने लगी, "इस कठिन बन्धन में दुख होने पर भी आज स्वामी के मुंह से ऐसी गाढ़ी प्रीति की बात सुन कर मेरा जीवन सार्थक हुआ । जिस स्त्री पर स्वामी सन्तुष्ट न हुआ, वह स्त्री स्त्री ही नहीं। जो हो, इस समय व्याध की सेवा करनी चाहिए; यह प्रबल आंधी के मारे आज अपने घर जा न सका । यह इस समय हमारा अतिथि हुआ है, क्योंकि हम लोगों के बसेड़े के नीचे ही इस ने आश्रय लिया है।" यह कह कपोती ने ऊंचे स्वर से अपने स्वामी को व्याध की दुरावस्था की बात जनाई । यह सुन कर कपोत अपना दुःख भूल मीठे वचनों से व्याध की अभ्यर्थना करता हुआ बोला, "आज मेरे भाग्य से आप मेरे घर अतिथिरूप पधारे हैं, आज्ञा दीजिए आप की क्या सेवा करूं।" व्याध ने कहा, "मेरा सारा शरीर शीत से विवश हो रहा है, यदि हो सके तो मुझ को गरमी पहुंचाओ।" कपोत ने तुरत अपनी चोंच से तृण पत्रादि इकट्ठा कर निकटवर्ती ग्राम से किसी पात्र में एक जलता हुआ अंगार ला अग्नि प्रज्वलित किया। व्याध के उस अग्नि के उत्ताप से अपने शरीर को गरम करने पर कपोत फिर बोला, "आज्ञा कीजिए, और आप की क्या सेवा करूं।" व्याध ने भोजन की इच्छा

प्रगट करने पर वह कपोत सोचने लगा—"भोजन की सामग्री तैयार नहीं है, और क्षुधार्त अतिथि भूखा रहे, यह भी उचित नहीं।" यही सोचते २ कपोत के मन में ज्ञान का उदय हुआ। वह बोला, "अवश्य मैं आप को भोजन कराऊंगा। ऋषियों, देवताओं और पितरों से सुन चुका हूं कि अतिथिसत्कार से महा पुण्य प्राप्त होता है। आप कृपा कर जो सत्कार मुझ से बन पड़े उसे स्वीकार कीजिए।" यह कहते २ कपोत ने तीन बार अग्नि की प्रदक्षिणा कर उस अतिथि के लिए अपने शरीर को अग्नि में आहुतिस्वरूप डाल दिया। इस अद्भुत कार्य्य—अतिथिसत्कार के चरम दृष्टान्त—को देख कर व्याध के मन में आप से आप अपने अतीत निष्ठुर जीवन को ओर घृणा उपजी; उस की नृशंसता का मूलोच्छेद हो गया और अग्नि से शोधित कृतज्ञ हृदय से वह कहने लगा, "महात्मा कपोत! तुम मेरे परम गुरु हुए, तुम ने ही मुझे अपना कर्त्तव्य सिखाया। अब मैं अपने पाप का प्रायश्चित करूंगा। इस अधम शरीर को सेवा और न करूंगा। जिस तरह सूर्य अपनी तेज किरणों से दुर्गंधमय छोटे जलाशय के जल को सुखा कर उसे विशुद्ध करता है, उसी तरह मैं भी आज से नित्य उपवास और तप द्वारा पूर्व्वकृत पाप का प्रायश्चित करूंगा। अब कभी पापाहार से पेट न भरूंगा, अनाहार से शरीर को सुखा डालूंगा। यह महान दृष्टान्त सदा के लिए मेरे हृदय में अंकित रहेगा; आज से धर्म्म-पथ ही मेरा आश्रय हुआ।"

इतना कह व्याध ने उसी क्षण अपना तीर, कम्पा, लासा, पाश, पिंजड़ा और झोली को छोड़ दिया और उस विधवा कपोती को पिंजड़ा से निकाल दिया। पति के शोक से विह्वला उस कपोती ने भी सात

बार स्वामी के चिताग्नि की प्रदक्षिणा कर देह त्याग दिया । और यह कहा ।

पति पत्नी को देत हैं तन मन धन अरु प्राण ।
एकाकी तिन को तजे जानो नरक समान ॥

इस व्यापार के साथ २ अनुताप से शोधित व्याध को दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई, और उस की सहायता से उस ने देखा कि कपोत और कपोती दोनों दिव्य शरीर धारण कर स्वर्ग को जा रहे हैं । उन का स्वर्गारोहण देख कर उस की धर्मप्रवृत्ति और भी दृढ़ हो गई । उस दिन से वह निष्कलङ्क चरित्र हो तापसवृत्ति अवलम्बन कर बन में रहने लगा । कठोर तपस्या के बल से व्याध के सब पाप भस्मीभूत हो गये, और कुछ दिन के बाद उस का शरीर भी दावाग्नि से भस्म हो गया । आज कल बहुत लोग आडम्बर के साथ अतिथिसत्कार की क्षमता न रहने से अतिथि को लौटा देते हैं । ऐसे लोगों को इन कपोत और नकुल के उपाख्यानों से अपना भ्रम दूर करना चाहिए । मनु ने भी कहा है—

"तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता ।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥"

(मनु ३ । ९९)

तृण पृथ्वी जल तीन पुनि मधुर बचन ये चार ।
सज्जन घर घटते नहीं कभी लखो सुविचार ॥

अतएव अत्यन्त दरिद्र भी अतिथि को कभी न लौटावे, पर यदि कुछ भी न हो सके तो केवल आसन, जल और मीठे वचन से उस का सत्कार करे ।

क्षमाशीलता प्रकृत महत्व का लक्षण है। संसार में एक साथ रहने से इस गुण का पूरा सर्व्वदा अभ्यास करना आवश्यक है। जब तक सब लोग राग द्वेष को न छोड़ें तब तक पारिवारिक वा सामाजिक जीवन बिना क्षमा के सुख और शांतिमय नहीं हो सकता। सब कोई कभी न कभी, जाने वा अनजाने, दूसरे की बुराई कर बैठते हैं। अतएव यदि हम लोग परस्पर अपराध को क्षमा करने की शिक्षा न करें तो शांति और प्रीति की सम्भावना कहां? मनुष्य अज्ञान से ही दूसरे का अपकार करता है। अतएव अपराधकारी की मूर्खता को दूर करना ही एकमात्र इस का प्रतीकार है। बदला लेने की इच्छा रखने से मूर्खता दूर नहीं होती; वरन इस से वह दृढ़ हो जाती है। और भी क्षमाशील नहीं होने से मनुष्य कभी भी उदार नहीं हो सकता। क्षमा से हृदय का विस्तार होता है और दूसरे की हीनता को देख कर क्रोध के बदले दया उपजती है। क्षमाशील मनुष्य दूसरे के काम में कभी भी बुरा उद्देश्य देखना नहीं चाहते; केवल भ्रान्ति वा अज्ञानता से ही यह अपराध उस से हो गया है ऐसा समझ कर वह उस के प्रतीकार में प्रवृत्त होते हैं।

रामायण में लिखा है कि किसी के सैकड़ों अपराध करने पर भी रामचन्द्र को उस का स्मरण नहीं रहता था, परन्तु सामान्य उपकार की बात भी उन के हृदय में सदा जाग्रत रहती थी। विदुर जिस तरह सहज में अपमान को भूल क्षमा करते थे, वह सब सभी के अनुकरण करने के योग्य हैं। राजा धृतराष्ट्र ने विदुर से यह पूछा कि दुर्योधन के विषय में क्या करना चाहिए। ज्ञानी विदुर ने दृढ़ भाव से भाई को यह कहा—

"दुर्योधन को पाण्डवों के साथ सन्धिस्थापन कर उन के साथ सद्भाव से काल-यापन करने की आज्ञा दीजिए । और जिन लोगों ने दुर्योधन को पाण्डवों के प्रति दुराचार करने के लिए उत्तेजित किया है अथवा सहायता दी है, वे लोग भी दुःखित और निर्वासित पाण्डवों से क्षमा की प्रार्थना करें ।" इस बात पर धृतराष्ट्र ने क्रोधित हो कर विदुर को बहुतेरे कटु वचन सुनाए और उन्हें पक्षपाती तथा अकृतज्ञ कह कर अपने सामने से दूर होने को कहा । लाचारी विदुर ने पाण्डवों के निकट वन में जा उन्हें अपनी अपमान-कहानी कह सुनाई और चचा के योग्य उपदेश द्वारा उन्हें मृदुता, शिष्टाचार और वाक्यसंयमता की अत्यावश्यकता की शिक्षा दी थी । इधर विदुर को निकाल कर धृतराष्ट्र के मन में अत्यन्त दुःख होने लगा । जब उन्हें अपना अन्याय समझ पड़ा तो उन ने सञ्जय से कहा "सञ्जय ! हम ने क्रोध में आ कर व्यर्थ अपने भाई विदुर का तिरस्कार किया; देखो तो वह जीता है या नहीं । हाय ! उसने कभी भी मेरे साथ कुव्यवहार नहीं किया; मैं ने ही उस के साथ ऐसा कुव्यवहार किया । सञ्जय तुम ज्ञानी हो; जाओ, शीघ्र समझा बुझा कर भाई को मेरे पास ले आओ ।" सञ्जय गये तो सही, परन्तु उन्हें यह विश्वास न था कि वह वीर और पराक्रमी विदुर अपने अस्थिरचित्त भाई के अपराध को क्षमा कर कभी भी उन के राज्य की रक्षा के लिए उन के पास लौट आवेंगे । जो हो, वन में जा कर सञ्जय ने देखा कि विदुर पाण्डवों के बीच बड़े सम्मान के साथ सबों के पूजा बन विराज रहे हैं । सञ्जय के वन्दनापूर्वक धृतराष्ट्र के क्षोभ की बात कहते ही विदुर क्षण भर के लिए भी इधर उधर न कर

बिदा ले बिना विलम्ब अपने बड़े भाई के समीप आए। जब धृतराष्ट्र उन से क्षमा मांगने के लिए उठ खड़े हुए तो विदुर ने कहा, "मेरे निकट क्षमा मांगना व्यर्थ है, आप मेरे बड़े और गुरु हैं; अतएव आप सदा मेरे पूज्य हैं। आप की आज्ञा सुन कर ही मैं व्यग्र हो आप से मिलने आया हूं। आप को न देख कर मुझे बड़ा दुःख हुआ। यदि मेरा कहना आप को पांडवों का पक्षपाती सा मालूम हुआ हो तो यह केवल दुःखी लोगों के साथ मनुष्य की स्वाभाविक सहानुभूति मात्र है। विचार की अपेक्षा हृदयावेग से ही ऐसे वाक्य निकल पड़ते हैं। हे राजन्! आप के लड़के भी मुझे पांडवों के समान प्रिय हैं; पर पांडवों की वर्त्तमान दुरावस्था ने मेरे हृदय को द्रावित कर दिया था, बस इतनी ही बात थी।" इसी प्रकार बड़े भाई की सब लाञ्छना की बातों को भूल कनिष्ट विदुर ने उल्टे मीठी बातों से उन्हें सन्तुष्ट किया।

भलमनसी (urbanity) और दूसरे के मन को दुख पहुंचाने से अलग रहना (consideration for the feelings of others) शीलता के प्रधान अङ्ग हैं। इस लिए शिष्टाचार और सौजन्य (good manners and gentlemanliness) महानुभावता के विशेष गुण हैं; और इसीलिए सदा से आदृत होते आते हैं। विनय और भलमनसी उच्चता के सदा साथी हैं। अतएव सर्व्वदा सत्य और प्रिय बोलना चाहिए। मनु ने कहा है—

> सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियं।
> प्रियञ्च नानृतं ब्रूयात् एषधर्म्मः सनातनः॥

(मनु २। १३८)

सत्य कहे प्रिय भी कहे कहे न अप्रिय सत्य।
कहे असत्य न जान प्रिय धर्म सनातन नित्य॥

सच है कि संसार में अनेक बार अप्रिय सत्य बोलना आवश्यक होता है; यहां तक कि अप्रिय सत्य न बोलने से कर्त्तव्यता की हानि होती है। छोटों के सुधार के लिए उन के दोष दिखाने और तिरस्कार करने का प्रयोजन होता है। ऐसे स्थानों में दूसरे के मन को दुःख न पहुंचाने की दोहाई दे कर बड़ों को अपने कर्त्तव्य का उल्लंघन करना कदापि उचित नहीं। वरन ऐसी अवस्था में अप्रिय सत्य बोलना उचित होने पर भी जिस में वह उजड्ड वा कर्कश न हो ऐसा यत्न करना चाहिए, और जहां तक संभव हो कोमलता और नम्रता के साथ दोष को सुधारने की चेष्टा करनी चाहिए।

कर्कश वा कठोर वाक्य तिरस्कार के उद्देश्य को व्यर्थ कर देते हैं। क्योंकि तिरस्कृत के हृदय में उस का प्रवेश नहीं होता। आत्म-संयम और आत्ममर्यादा (self-respect) का ज्ञान नहीं रहने से शिष्टता (good manners) नहीं आती। आदर के साथ वार्तालाप, मीठी बोली, मीठी हंसी, गम्भीरता से सामाजिक सौहार्द अधिक मीठा हो जाता है, और बहुतेरे सामाजिक कार्य्य जो रूखे मनुष्यों के बीच कलह के कारण हो जाते हैं, उन्हें भले और शिष्टाचारी व्यक्ति बड़ी मधुरता से सब से मित्रता रखते हुए सहज में सम्पादन करने में समर्थ होते हैं। अतएव आर्य्य नवयुवकों को यत्नपूर्व्वक पूर्व्वकथित शिष्टाचार का अभ्यास अवश्य करना चाहिए। सोना भी विशुद्ध करने से अधिक चमकदार हो जाता है। उसी तरह पवित्र चरित्र वाले शिष्टाचार से भूषित हो कर अधिक मनोहर

हो जाते हैं। इस देश के प्राचीन इतिहासों और पुराणों में अभ्यागत के साथ शत्रु वा मित्र का विचार न कर सब के साथ वाक्य और कार्य्य में भलमनसी और शिष्टाचार के जैसे उदाहरण पाये जाते हैं, वैसे किसी दूसरे देश और जाति के इतिहास में नहीं पाये जाते। रामचन्द्र की बातें बड़ी कोमल थीं। वह सर्व्वदा हो मुस्करा कर बोला करते थे। एक समय लक्ष्मी ने दानवों के विषय में कहा कि "उन सबों के बड़े मधुरभाषी, मित्रता से युक्त और क्षमाशील होने के कारण मैं उन के गृह में बास करती थी; परन्तु जब वे लोग क्रोध के वश हो अन्याय का आचरण करने में प्रवृत्त हुए, तो मैं अपनी सदा की संगिनी आशा, विश्वास, ज्ञान, सन्तोष, जय, उन्नति, क्षमा प्रभृति के साथ उन के घर को छोड़ चली आई"। नारद भी मधुरभाषी, उदार, सत्यवादी और क्रोध तथा लोभ से शून्य थे। इसी लिए सचमुच सब लोग उन को प्यार करते और उन में श्रद्धा भक्ति रखते थे। भीष्म देव ने कहा है, कि दृष्टि, वाक्य, यहां तक कि चिन्ता द्वारा भी किसी की अवज्ञा वा अपमान करना उचित नहीं। किसी के विषय में भला बुरा कहना या पराये की चर्चा करनी अनुचित है। किसी का अप्रिय कार्य्य वा अपकार करना न चाहिए। दूसरे के व्यंग बचन वा निन्दा पर ध्यान देना उचित नहीं। यदि कोई हम लोगों को चिढ़ावे तो उस के साथ भी मीठे बचनों का प्रयोग करना उचित है। अपवाद के बदले अपवाद अकर्त्तव्य है। एक उपाख्यान यों है। कभी नारद ने पद्म नामक नाग के विषय में यह कहा था, कि वह बड़ा अतिथिप्रिय, क्षमाशील, दूसरों के अनिष्ट करने से बिमुख, सत्यभाषी, द्वेषहीन, प्रियवादी और सर्व्वजीवहितकारी था। (यह नाग

एक साथ ही कर्म्म, ज्ञान और भक्ति, इन विषयों का साधन किया करता था) एक दिन कोई ब्राह्मण उस के घर भिक्षा के लिए आया; परन्तु वह उस समय घर पर नहीं था। उस की स्त्री ने उस ब्राह्मण का यथोचित सत्कार कर रहने को कहा। पर वह वहां न ठहर कर नाग के आने की प्रतीक्षा में अनाहार नदी किनारे खड़ा रहा। इस से व्यथित हो नागराज के आत्मीय लोग उस के निकट आकर आतिथ्यग्रहण का अनुरोध करने लगे। उन लोगों ने कहा कि आप के भूखे रहने से हम लोगों के आतिथ्य-धर्म्म में आघात पहुंचता है और इसी से आबाल वृद्ध वनिता सभी अधीर हो रहे हैं। ब्राह्मण विनीतभाव से बोला कि आप लोगों के विनीत और उदार वचनों से मैं सन्तुष्ट हो चुका, पर जब तक नागराज से साक्षात न होगा तब तक भोजन नहीं कर सकता। इतने में नाग राज के आ पहुंचने पर उन की स्त्री और उन से जो बात चीत हुई, उस में हम लोगों को गार्हस्थ्य धर्म्म के विषय में बहुत कुछ उपदेश मिलते हैं। सब का उपकार करना ही गृहस्थ का धर्म्म है। जो कोई अतिथिरूप से अपने घर आवे उस का यथाशक्ति सत्कार और सुश्रूषा करना उचित है। गृहस्थ को धीर, प्रियवादी, क्रोधहीन, निरहंकार, दयालु और सत्यवादी होना चाहिए। प्राचीन समय में इस तरह लोगों को सामान्य बात चीत में भी सामाजिक कर्त्तव्य की शिक्षा दी जाती थी।

* * * *

"पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहु कल्याणमीप्सुभिः ॥

यत्र नार्य्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता: ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्व्वास्तत्राफला: क्रिया: ॥
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलं ।
न शोचन्तितु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्व्वदा ॥
जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिता: ।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्तत: ॥"

(मनु ३ । ५५—५८)

पिता भ्रात भर्त्ताऽथवा देवर शील निधान ।
जो चाहै कल्याण निज करै नारि सन्मान ॥
क्रीड़ा करते देव गण जहां नारि सन्मान ।
जहां निरादर है तहां जानो नरक निदान ॥
जहां बिलपतीं नारियां सो कुल अवश नसाय ।
जहां रहैं प्रमुदित बनी वह दिन २ सरसाय ॥
नारि शाप देतीं जहां कष्ट निरादर पाय ।
कृत्या हतसा धामसो शीघ्रहिं अवश नसाय ॥

*   *   *   *

"एतावानेव पुरुषो यज्जायात्मा प्रजेतिह ।
विप्रा: प्राहुस्तथा चैतत् यो भर्त्ता सा स्मृताङ्गना ॥"

(मनु ९ । ४५)

पुरुष एक है, सकल मिलि जाया अरु सन्तान ।
कहै विप्र, जो नारि सोइ भर्त्ता निश्चय जान ॥

*   *   *   *

"प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः सन्तानार्थं च मानवाः ।
तस्मात् साधारणो धर्म्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः ॥९६॥
अन्योन्यस्या व्यभीचारी भवेदामरणान्तिकः ।
एष धर्म्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयो परः १०१॥
तथा नित्यं यतेयातां स्त्री पुंसौ कृतक्रियौ ।
यथा नातिचरेतां तौ वियुक्ता वितरेतरं ॥१०२॥"

(मनु ९ अः ९६, १०१, १०२)

जननी हित नारी रची नर उत्पादन हेत ।
सकल धर्म्म इस हेतु ही श्रुति कह नारि समेत ॥
एक दूसरे को न तज करें कभी व्यभिचार ।
नारि पुरुष का है यही कहा सुधर्म विचार ॥
बंधे ब्याह के बंध में यत्न करें इस तौर ।
जो अप्रिय न करें कभी हुए विलग दो ठौर ॥

*   *   *   *

अप्रणोद्योऽतिथिः सायं सूर्योढ़ा गृहमेधिना ।
काले प्राप्तस्त्वकाले वा नास्यानश्नन् गृहे वसेत् ॥१०५॥
नवै स्वयं तदश्नीयादतिथिं यन्न भोजयेत् ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यंवातिथिभोजनं ॥१०६॥"

(मनु ३ अः १०५, १०६)

अतिथि प्राप्त सूर्यास्त के परे न कीजे दूर ।
किसी समय आवे अतिथि अन्न दिये यश भूर ॥
स्वयं न भोजन कीजिये जो न अतिथि को दान ।
भोजन देना अतिथि को आयू यश सुख खांन ॥

*   *   *   *

"यस्य वाङ्मनसोशुद्धे सम्यक् गुप्ते च सर्वदा।
स वै सर्व्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलं ॥१६०॥
नारुन्तुदः स्यादार्त्तोऽपि न परद्रोह कर्म्मधी:।
ययास्योद्विजते वाचा नालोक्यं तामुदीरयेत्" ॥१६१॥

(मनु २। १६०, १६१)

जिस के मन औ वचन हैं शुद्ध बने सब काल।
सो पाकर होता सुखी फल वे दांत निहाल ॥
दुखी हुए भी नहिं करे मर्मन्तिक कोई काम।
छोड़ नित्य परद्रोह को मुदित रहे निज धाम ॥
जो पर के उद्वेग कर कहे न कोई बैन।
सब प्रकार मतिमान सो पाता है सुख चैन ॥

*   *   *   *

"नास्तिक्यं वेदनिन्दाञ्च देवतानां च कुत्सनं।
द्वेषं स्तम्भं च मानं च क्रोधं तैक्ष्ण्यं च वर्ज्जयेत् ॥"

(मनु २। १६३)

द्वेष वेद निन्दा तथा नास्तिकता रिस मान।
स्तम्भ देव निन्दा तजो तैक्ष्ण्य हानि अनुमान ॥

*   *   *   *

"नारुन्तुदः स्यान्नृशंसवादी
न हीनतः परमभ्याददीत।
ययाऽस्य वाचा पर उद्विजेत
न तां वदेदुषतीं पापलोक्यां ॥८॥
अरुन्तुदं परुषं तीक्ष्णवाचं

वाक् कण्टकैर्वितुदन्तं मनुष्याम् ।
विद्यादलक्ष्मीकतमं जनानां
मुखे निबद्धां निऋतिं वहन्तं ॥१०॥
वाकसायकावदनान्निष्पतन्ति
यैराहत: शोचति रात्र्यहानि ।
परस्य नाममर्मसु ते पतन्ति—
तान् पण्डितो नावसृजेत्परेषु ॥११॥
नह्यीदृशं सम्वननं त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
दयामैत्री च भूतेषु दानं च मधुरा च वाक् ॥१२॥
तस्मात् सान्त्वं सदा वाच्यं न वाच्यं परुषं क्वचित् ।
पूज्यान् संपूजयेत् दद्यान्न च याचेत् कदाचन ॥१३॥"
(महाभारत आदिपर्व ८७ अ:)

निठुर वाक्य नहीं कभी उचारी ।
छल से न शत्रु विजय मन धारी ॥
पर पीड़क जनि बचन सुनाओ ।
पाप बचन में मन न लगाओ ॥
परूष तीक्ष्ण ममन्तिक वाणी ।
कह जो दुखित करे अभिमानी ॥
सो दरिद्र नर गण में भारी ।
निऋति धरे मुख बीच अनारी ॥
मन्द वाक्य है बाण समाना ।
मुख से निकल करे बध प्राणा ॥
लगे जिसे सो निशि दिन रोवे ।
इस प्रकार शर बुध नहिं छोड़े ॥

दया मधुर वाणी तथा सर्व भूत को दान ।
नहीं मयत्री सरिस धन तीन लोक में जान ॥
तिस कारण तज परुष वच कहे मधुर सब काल ।
कभी न जांचे पूजा को सदा करे सत्कार ॥

* * * *

"क्रुद्धः पापं नरः कुर्यात् क्रुद्धो हन्यात् गुरूनपि ।
क्रुद्ध परुषया वाचा श्रेयसोऽप्यवमन्यते ॥४॥"

(महाभारत वनपर्व २९ अ:)

क्रोधी गुरु हत्या करे क्रोधी करता पाप ।
क्रोधी कह कर परुष वच दे गुरु को संताप ॥

* * * *

"किं स्विदेकपदं ब्रह्मन् पुरुषः सम्यगाचरन् ।
प्रमाणं सर्व्वभूतानां यशश्चैवाप्नुयान्महत् ॥२॥
सान्त्वमेकपदं शक्र पुरुषः सम्यगाचरन् ।
प्रमाणं सर्व्वभूतानां यशश्चैवाप्नुयान्महत् ॥३॥
एतदेक पदं शक्र सर्व्वलोकसुखावहं ।
आचरन् सर्व्वभूतेषु प्रियोभवति सर्व्वदा ॥४॥"

(महाभारत शान्तिपर्व ८४ । २—४)

कौन वस्तु वह एक प्रभु जिसे किये मतिमान ।
पूजा होय सब जीव का पावे सुयश महान ॥
एक वस्तु है नम्रता जिसे किये मन लाय ।
बने यशस्वी जगत में और पूजा कहलाय ॥

एक मात्र यह वस्तु है सब सुख का आधार ।
धरे दूसे सब लोक का प्रिय होना नहिं भार ॥

*　　*　　*　　*

"यस्तु क्रोधं समुत्पन्नं प्रज्ञया प्रतिबाधते ।
तेजस्विनं तं विद्वांसो मन्यन्ते तत्त्वदर्शिनः" ॥१७॥

(महाभारत वनपर्व, २९ अ:)

जो नर उपजे क्रोध को करे बुद्धि से बाध ।
सो तेजस्वी विबुध मत है विद्वान अगाध ॥

षष्ट अध्याय।

छोटे के प्रति व्यवहार।

अब हम लोग अधःस्थ वा कनिष्ट व्यक्तियों के प्रति कर्त्तव्या-कर्त्तव्य का विचार करें। इस के हो जाने से ही मनुष्य के परस्पर सम्बन्ध-जात सब प्रकार के गुण और दोष का विचार समाप्त हो जायगा। जो लोग किसी न किसी तरह हम से निकृष्ट हैं, अर्थात् जो लोग हम से उमर में छोटे, अल्पज्ञानी, दरिद्र वा निम्नपदस्थ हैं उन लोगों के साथ किस तरह का व्यवहार करने से, और किन २ गुणों का आचरण और किन २ दोषों का परिहार करने का अभ्यास करने से उन लोगों के साथ सुख, शान्ति और प्रीति-पूर्व्वक जीवन-यापन कर सकते हैं, यह जान लेना सभी के लिए आवश्यक है। यहां भी उसी मूल सूत्र का प्रयोग करना उचित है कि अनुराग वा प्रेम से सद्गुणों की उत्पत्ति होती है और द्वेष वा विराग से दोषों की। छोटे के प्रति जिन २ सद्गुणों का व्यवहार करना चाहिए वे परहितैषिता के अन्तर्गत हैं और जिन दोषों का परिहार करना चाहिए वे आत्मश्लाघा के अन्तर्गत हैं। छोटे के प्रति हितैषिता सहानुभूति, कृपा और दानशीलता के रूप में प्रगट होती है।

पहला, उमर में छोटे के साथ का सम्बन्ध है। उन के साथ व्यवहार के योग्य सद्गुणों के प्रयोग का दृष्टान्त सन्तान के प्रति उन के माता पिता के व्यवहार में अच्छी तरह देखा जाता है। बच्चों की दुर्बलता, दूसरे पर निर्भरता और असहायता माता

पिता के हृदय में आप से आप स्नेह और दया उपजाती है। निरवलम्ब और आत्मनिर्भरता में असमर्थ सन्तान के लिए स्वभाव से ही उन का हृदय स्नेह और दया से परिपूर्ण होता रहता है। उस समय में वे लोग मधुर वाक्य, प्रेमालिङ्गन, प्रसन्नमुख और स्नेह दृष्टि से बच्चे को हर घड़ी इस तरह उत्साह देने और निडर करने में तत्पर रहते हैं कि वह अपनी क्षुद्रता और दुर्बलता भूल कर उन के बल के भरोसे अपने को बलवान समझ कर, उन की शक्तियों को अपनी शक्तियों सी प्रयोग कर—अपने अभावों को पूरा करने की चेष्टा करता है। कृपा, दाता और ग्रहीता के बीच के भेद को घटा देती है—सदय व्यवहार से छोटे के मन की शङ्का और सङ्कोच को दूर कर उसे दया करने वाले के समान बना देना चाहती है। बड़े को चाहिए कि छोटे में भीरुता और सङ्कोच जितना अधिक हो, उतनाही अधिक उस के साथ मनोहरता, कोमलता और मधुरता दिखा कर उस के मन में निडरपन और निर्भरशीलता उत्पादन करें।

मातृस्नेह का एक बहुत अच्छा उपाख्यान महाभारत में लिखा है। प्राचीन समय में गोजननी सुरभि देवराज के निकट आकर रोने लगी। इन्द्र के यह पूछने पर कि भगवति आप क्यों रो रही हैं? आप को क्या हुआ है? सुरभि ने कहा "मुझे अपने शरीर का कोई दुःख नहीं है, पर अपनी सन्तानों के दुःख से मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है। देवराज! देखिए, मेरी दुर्बल सन्तान हल बहने में असमर्थ हो कर बार बार भूमि पर गिर रही है, पर तोभी निर्दय किसान उन को बार बार मार रहा है।• हल में जुते हुए दो बैलों में एक बलवान बैल बिना परिश्रम के हल खींच सकता

है, पर इस से दूसरे दुर्बल बैल को जो कष्ट होता है उस कष्ट को देख कर ही मैं अत्यन्त दुःख से रो रही हूं।" इन्द्र ने विस्मित हो कहा "आप की सहस्रों सन्तानों को तो प्रति दिन ऐसा ही दुःख उठाना पड़ता है।" सुरभि ने कहा "देवराज! वास्तव में मुझे उन्हीं सहस्रों सन्तानों के लिए रोना पड़ता है, और उन में जो अधिक दुर्बल हैं उन के लिए मुझे अधिक दुःख होता है।" यह सुन कर इन्द्र ने समझा कि सन्तान के कष्ट से माता का हृदय किस प्रकार दुःखित होता है और पृथ्वी पर वर्षा बरसा कर, मनुष्य और पशु दोनों का दुःख दूर किया।

रामचन्द्र के प्रति दशरथ का वात्सल्य प्रेम देख कर हृदय चमक उठता है। उन को अपने आदर्श पुत्र की प्रशंसा सुन कर जितना अधिक आनन्द होता था उतना ही अकथनीय मर्मपीड़ा उन के वनगमन से हुई थी। उन ने दूसरे राजाओं और सभासदों के सामने रामचन्द्र के यौवराज्याभिषेक का प्रस्ताव करते हुए किस तरह सौ मुंह से उन की प्रशंसा की थी, उसे एक बार पढ़ो तो देख सकोगे कि उस के प्रत्येक पद और प्रत्येक वाक्य में अकृत्रिम स्नेह और पुत्रगौरवाभिमान विद्यमान है; और जिस समय कैकेई ने वर मांगने के बहाने रामचन्द्र का निर्वासन चाहा, उस समय दशरथ शोक से उस के पैर पर गिर यों बोले—

"तिष्ठेल्लोको विना सूर्यं शस्यं
न तु रामं विना देहे तिष्ठेत्तु मम जीवनम्

मैं तुम्हारे पैरों पड़ता हूं—मुझ पर दया करो। इस प्राणकाल स्वामी पर दया करो।" उन का ऐसा कहना मिथ्या नहीं था। वास्तव में राम बिना उन के शरीर में प्राण नहीं था। इधर रामचन्द्र

ने अयोध्या छोड़ा, उधर दशरथ ने भी भग्नहृदय हो अपने निर्वासित पुत्र राम के वियोग में प्राण त्याग किया । फिर रामचन्द्र के अपने वनवास की वार्ता कौशल्या को जनाने पर जो हृदयविदारक घटना हुई थी उसे एक बार स्मरण करो । निदारुण मर्मपीड़ा से व्यथित हो उन ने राम को वन जाने को मना किया था । उन ने कहा था कि तुम्हारे वनगमन करने से मेरा हृदय टूक २ हो जायगा, और यदि पिता के सत्य की रक्षा करने में दृढ़प्रतिज्ञ हो अवश्य वनवास करो, तो मैं भी वनवासिनी होऊंगी; जिस तरह गाय अपने बच्चे के पीछे जाती है, मैं भी उसी तरह तुम्हारे पीछे २ वन को जाऊंगी ।

फिर कुन्ती के दुःख की बात याद करो । जिस समय उन के पांचो पुत्र जुए में सर्व्वस्व हार कर वन को चले उस समय को उन की मर्मपीड़ा को कौन वर्णन कर सकता है ? यद्यपि कुन्ती के हृदय में अधिक बल था, तौभी वह आदर्श वीरनारी—आदर्श वीर माता जिस ने युद्ध यात्रा के समय श्री कृष्ण को अपने पुत्रों को यह कहने की आज्ञा दी थी, कि जिस समय के लिए क्षत्रिय रमणी पुत्र को गर्भ में धारण करती है वह समय आ पहुंचा है; मान की रक्षा के लिए प्राण त्याग करना भी श्रेय है—वही कुन्ती पाण्डवों की वन-यात्रा के समय फूट २ कर रोने लगी, और वही कुन्ती पुत्र-वियोग न सह सकने के कारण उन लोगों के साथ वन गई थी ।

फिर भी वीर पुत्र अभिमन्यु की मृत्यु से अर्जुन की मर्मपीड़ा की बात याद करो । युद्ध-क्षेत्र से शिविर में लौटने के समय जब उन्हें अपना हृदय अन्धकारमय जान पड़ने लगा, तब वह श्री कृष्ण से

शरणागत हुए और उन से इस का कारण पूछा । फिर शिविर में आ कर इस का कारण अपने भाइयों से बार बार पूछा; किन्तु यह हृदयविदारक पुत्र के मारे जाने की बात कहने का साहस किसी को न हुआ। नहीं जानने पर भी उन का हृदय पुत्र-वियोग की यन्त्रना से व्यथित हो रहा था । उस बालक ने शत्रुओं से चारो ओर घिर जाने पर मन ही मन यह आशा की थी कि मेरे पिता इस दारुण संकट में मेरी रक्षा करेंगे। पर उस के पिता पहुंच नहीं सके, और उस असहाय बालक ने क्षत विक्षत हो अपना प्राण त्याग किया । पुत्र की रक्षा के लिए पहुंच न सके, इस चिन्ता से अर्जुन उन्मत्त सा हो गये; क्योंकि, वीरहृदय दुर्ब्बल की रक्षा के लिए सदा व्यग्र रहता है । फिर यदि वह वीर पिता हो और दुर्ब्बल प्रियतम पुत्र हो, तो इस व्यग्रता की सीमा नहीं रहती।

यही दुर्ब्बल की रक्षारूपी कर्त्तव्य राज-धर्म्म में भली भांति विराजमान है। राजा इस कर्त्तव्य का अवतारस्वरूप है; यही राजा का प्रधान धर्म्म है। धार्म्मिक राजा सदा दुर्ब्बल का रक्षक है । इसी कर्त्तव्य के पालन से वह प्रजा के हृदय में राजभक्ति जाग्रत करता है। भीष्म ने कहा था—"प्रजा की रक्षा ही राज-धर्म्म का सार है । जिस तरह माता अपने गर्भजात सन्तान की रक्षा और कल्याण की कामना में सदा व्यस्त रहती है, उसी तरह राजा को भी प्रजा की रक्षा और इष्टसाधन के लिए व्यस्त रहना चाहिए । जिस तरह माता अपनी इच्छित विषय वासना को त्याग, केवल सन्तान के सुख को ही देखती रहती है, राजा को भी प्रजाओं के लिए वैसा ही करना उचित है । यह प्रजा-रक्षा-धर्म्म इतना गुरुतर और अलङ्घनीय है कि सागर राजा ने अपने ज्येष्ठ पुत्र

असमञ्जस को प्रजापीड़न के अपराध में निर्वासित किया था।

साधु राजाओं से, सच्चरित्र राजाओं से दुखियों की रक्षा होने की अनेकानेक कथायें विद्यमान हैं। वे दुर्बल मनुष्यों की ही रक्षा करते थे यह नहीं, शरणागत इतर जीव भी उन के कृपा-पात्र होते थे। महाप्रस्थान के समय एक कुत्ता हस्तिनापुर से युधिष्ठिर के साथ चला और बहुत रास्ते और कठिन मरुभूमि को लांघता, अन्त को उन के साथ स्वर्ग द्वार पर पहुंचा। युधिष्ठिर को लेने के लिए इन्द्र स्वर्ग से आये थे; जब उन ने उन्हें रथ पर चढ़ने के लिए कहा, तो युधिष्ठिर ने उस कुत्ते का मस्तक छू कर कहा, "यह कुत्ता मेरा बड़ा भक्त है; यह भी मेरे साथ जायगा, मैं पृथ्वी के इस जीव से बड़ा अनुरक्त हो गया हूं।" इन्द्र ने कहा "स्वर्ग में कुत्ते को जाने का अधिकार नहीं है। हे राजन्! आप आज मेरे तुल्य अमरत्व, देवत्व और स्वर्ग के सुख के अधिकारी हुए; कुत्ते को छोड़िये, केवल यही आप के स्वर्गारोहण का एक-मात्र प्रतिबाधक है। ऐसा करने से कुछ भी निष्ठुरता न होगी। यह पृथ्वी का जीव है; पृथ्वी में ही रहे।" युधिष्ठिर ने कहा "हे सहस्राक्ष! आर्य्य सन्तान कदापि अनार्य्योचित कार्य्य नहीं कर सकती। मैं शरणागत को छोड़ कर स्वर्ग का सुख भी नहीं चाहता।" तब इन्द्र ने दृढ़ता के साथ कहा, "कुत्ता ले कर तो कभी स्वर्ग जाना हो ही नहीं सकता; कुत्ते को छोड़ कर शीघ्र आइये, व्यर्थ समय नष्ट होता है।" युधिष्ठिर ने कहा "शरणागत को छोड़ देने के समान दूसरा पाप नहीं। पण्डितों ने इस पाप को अपरिमेय कहा है। दुर्बल शरणागत की रक्षा न करना ब्रह्म-हत्या के समान महा पाप है। हे देवेन्द्र! मैं स्वर्ग का सुख पाने

के लिए इस शरणागत कुत्ते को छोड़ नहीं सकता।" इन्द्र की आज्ञा और विनय इन दोनों का कुछ फल न हुआ; युधिष्ठिर अटल ही बने रहे। वृथा बकवाद से उन की स्पष्ट दृष्टि पर परदा न पड़ा। तब इन्द्र ने फिर कहा, "आप ने अपनी स्त्री और भाइयों को तो छोड़ दिया; किन्तु इस कुत्ते के छोड़ने में क्या दोष है?" युधिष्ठिर ने कहा, "मेरे भाइयों और द्रौपदी ने शरीर त्याग दिया; मुझ में उन के बचाने का सामर्थ्य न था। विवश मुझे उन को छोड़ कर आना पड़ा। जब तक वे जीते रहे, मैं ने उन्हें नहीं छोड़ा। मेरे संगियों में अब केवल यही जीता बच गया है। मेरे समझ में शरणागत को छोड़ देना, उसे भय दिखाना स्त्री-हत्या, ब्रह्मस्व-हरण और मित्रद्रोहिता प्रभृति पापों के समान है।" उस समय कुत्ता विलीन हो गया और उस की जगह दिव्य ज्योतिमय स्वयं धर्मराज खड़े दीख पड़े। अनन्तर धर्मवीर युधिष्ठिर देव, मुनि और ऋषियों से स्तूयमान हो कर इन्द्र और कुत्ता रूप धर्मराज के साथ स्वर्ग पधारे।

प्राचीन काल का एक और उपाख्यान सुनो। उशीनर के पुत्र शिवि एक समय सभासदों के साथ राजसभा में विराज रहे थे कि इतने में एक कबूतर आकाश से आ कर उन के गोद में मारे भय और थकावट के हांफता हुआ गिर पड़ा। राजा बड़े यत्न से उस की सुश्रूषा कर रहे थे; उसी समय एक क्रुद्ध बाज भी राजसभा में आ पहुंचा। यह देख कर कबूतर डरता हुआ बोला "महाराज! मैं इसी देश में वास करता हूं, और आप इसी देश के राजा हैं। मैं आप के शरण में आया—मुझे शत्रु से बचाइए।" बाज ने कहा—"मैं भी आप के राज्य में रहता हूं;

यह कबूतर मेरा ईश्वरदत्त आहार है; मुझे अपने अधिकार से वञ्चित करना आप को उचित नहीं।" राजा ने थोड़ी देर तक विचार कर कहा "तुम दोनों का कहना यथार्थ है । हे कपोत ! तुम को मेरे निकट अभयप्रार्थना करने का अधिकार है । हे बाज ! तुम को भी तुम्हारे आहार से वञ्चित करना मेरा कर्त्तव्य नहीं । मैं इन दोनों ही धर्म्म की रक्षा करने के लिए बाध्य हूं । अतएव हे बाज ! तुम दूसरा आहार मांगो । मैं तुम्हें भर पेट खिला दूंगा ।" बाज बोला "मुझे इस कबूतर के सिवा किसी दूसरी वस्तु का प्रयोजन नहीं; किन्तु यदि आप की ऐसा ही दूसरा आहार देने की बलवती इच्छा है तो इस कबूतर के बराबर अपने देह से मांस काट कर मुझे दीजिए ।" मन्त्री लोग यह सुन कर उस क्रूरहृदय राजद्रोही बाज को मार डालने पर उद्यत हुए । पर महाराज शिवि ने कहा "मैं राजास्वरूप सिंहासन पर बैठा हूं; क्या छोटा क्या बड़ा, क्या बाज क्या कबूतर के लिए नहीं; केवल जीता जागता धर्म्म का अवतारस्वरूप प्रजाओं का आदर्श, इस आसन पर बैठा हूं । यदि छोटे २ विषयों का विचार मैं न कर सकूं, तो बड़े २ विषयों के विचार होने की आशा कहां ? मेरे सुविचार न कर सकने से, मेरे आदर्श से प्रजाओं का पतन होगा; अतएव शीघ्र तराजू लाओ ।" आज्ञा भंग करने में असमर्थ हो मंत्रियों ने तराजू लाया । राजा ने धीरता के साथ एक पलरे पर कबूतर को और दूसरे पलरे पर दृढ़तापूर्व्वक अपने शरीर से एक टुकड़ा मांस स्वयं काट कर रक्खा; किन्तु वह टुकड़ा कबूतर के बराबर नहीं हुआ । राजा ने तब एक टुकड़ा और काटा, तोभी कबूतर की ओर का पलरा भारी ही बना रहा । फिर एक टुकड़ा

काटा, तौभी वैसाही रहा। तब राजा ने ज्यों ही अपने सम्पूर्ण शरीर को पलरे पर रख दिया त्योंहीं कबूतर और बाज दोनों अन्तर्धान हो गये और उन की जगह अग्नि और इन्द्र दीख पड़े। उन दोनों ने बड़े आदर के साथ शिवि से कहा, "आप ही यथार्थ राजा हैं। राजा का प्रधान धर्म जो प्रजापालन है उसे आप ने अच्छी तरह समझा है; हम लोगों ने आप के विषय में जितना सुना था उस से कहीं अधिक पाया। आप का चत शरीर पूर्ण हो, और आप दीर्घजीवी हो कर प्रजाओं के हृदय में सदा राजा करते रहें।"

यह सच है कि उपरोक्त उपाख्यान केवल राजाओं के विषय में कहे गये हैं। कारण यह है कि वे ही सदा से दुर्बलों के आश्रयदाताओं के आदर्श हैं; परन्तु बालकगण भी अपने २ सामर्थ्यानुसार दुर्बल को आश्रय दे सकते हैं और उन की रक्षा कर सकते हैं। यदि इन उपाख्यानों को पढ़ कर भी हम लोग अपने जीवन में यथाशक्ति उन का अनुकरण नहीं करें, तो पढ़ना व्यर्थ है। "रन्तिदेव के समान दयालु" इस कहावत से ही अनुमान किया जा सकता है कि वे जगत के दयालुओं के कैसे आदर्श पुरुष थे। वह करुणावतार रन्तिदेव भी एक राजा ही थे। एक समय अनुचरों के सहित उन को लगातार अड़तालीस दिन तक बिना आहार बीता; उनचासवें दिन आहार के लिए उन को बहुत थोड़ा घी, दूध, यव और जल प्राप्त हुआ। वे ज्योंही भोजन करने बैठे कि एक ब्राह्मण अतिथिस्वरूप उपस्थित हुआ। राजा ने पहले उसे भोजन से सन्तुष्ट कर विदा किया। पीछे बची हुई सामग्री का समान भाग कर अनुचर को दे कर एक भाग आप ज्योंही भोजन करना चाहते थे त्योंही एक भूखा शूद्र आ पहुंचा। उन्हीं ने

सानन्द अपने भोजन का कुछ अंश उसे दिया । किन्तु शूद्र के चले जाने पर फिर ज्योंही राजा भोजन करने बैठे कि भूखे कुत्ते के साथ एक और अतिथि आ पहुंचा । उस समय राजा ने अपने लिए जल मात्र रख बाकी सब उन्हें दे दिया । उन के चले जाने पर रन्तिदेव ने देखा कि थोड़ा सा जल मात्र बच रहा है; उस जल से ज्योंही वह प्यास बुझाया चाहते थे, कि "जल दो, एक बिन्दु भी जल दो"—ऐसी कातरोक्ति उन के कान में आई । रन्तिदेव ने उधर आंखें उठाईं तो देखा कि एक डोम प्यास से कण्ठ सूख जाने के कारण पृथ्वी पर गिरा पड़ा है । राजा रन्तिदेव ने द्रवित हृदय से उस के निकट जा बड़े यत्न से उस के सिर को उठा कर अपने पीने के जल को उस के सूखे कण्ठ में दे कर कहा "लो भाई—लो यह जल पीओ।" उन के मीठे सन्तोषजनक वचनों से उन के जलदान का मूल्य सौ गुणा बढ़ गया । जब वह डोम जल पी कर सन्तुष्ट हुआ तो रन्तिदेव ने हाथ जोड़ कर भगवान से यह प्रार्थना की—"हे दयामय ! मैं अष्टसिद्धि नहीं चाहता, निर्व्वाणपद भी नहीं । हे देव ! केवल यही प्रार्थना करता हूं कि मैं सब को आत्मतुल्य समझ सकूं, सबों का दुःख अपने सिर सदा झेलता रहूं जिस से सब कोई बिना दुःख के जीवन यापन कर सकें । इस प्यासे की प्यास बुझा कर मेरी भूख, प्यास, सुस्ती, थकावट और शिरपीड़ा सब ही भाग गये।" उसी दिन से उन की यह प्रार्थना सब जीवों पर दयासूचक प्रार्थना का आदर्श हो रहा है।

अपनी अपेक्षा दुर्बल के प्रति दयाप्रदर्शन में एक दोष के आ जाने की आशङ्का है । इस से अभिमान की उत्पत्ति की सम्भावना है। "मैं इस दुर्बल की सहायता कर रहा हूं"—"मैं बड़ा

हूं," इस तरह की आत्मश्लाघा मन में उदित हो सकती है। (वास्तव में हम लोगों को यह समझना चाहिए कि ईश्वर के दिये हुए भण्डार में हम लोगों का समान अंश है; किसी कर्मदोष से यह भाई इस समय अपने पूर्णांश से वञ्चित है, मैं ने उसे कुछ उसी भण्डार से ला कर दिया।) इसी आत्माभिमान से गर्व का उद्भव होता है। उपकार करने की शक्ति और समाज के इष्टसाधन के सामर्थ्य की कथा बार बार स्मरण करने से गर्व की उत्पत्ति हो कर, किए हुए सत्कर्म का फल नष्ट हो जाता है। जब तक हम लोगों का भिन्न २ शरीर रहेगा तब तक इस भेदज्ञान को—बड़े छोटे का विचार, सब से भयंकर शत्रु—इस अहङ्कार को एक दम त्याग देना असम्भव है। यहां तक कि सिद्ध महापुरुषों को भी असावधानी से कभी २ इस के ग्रास में पड़ इस के अवश्यम्भावी फल को भोगना पड़ता है; क्योंकि कर्मफल मिटने वाला नहीं है, और बड़े छोटे किसी को भी छोड़ने वाला नहीं। इसी से स्मृति वा धर्मशास्त्र में अहंकार को ज्ञानी और बली का भी महा शत्रु कहा है; और सब को इस से सावधान रहने के लिए बार बार कहा गया है। इस विषय के दो चार उपाख्यान नीचे दिये जाते हैं।

बदरि नाम के पर्वत के शिखर पर नारायण नाम के एक ऋषि बहुत दिनों तक कठिन तपस्या करते रहे। ऋषि वास्तव में भोग्य वस्तुओं से विरत हुए या नहीं, इस बात की परीक्षा करने के लिए इन्द्र ने बहुतेरी सुन्दरी अप्सराओं को उस तपोवन में क्रीड़ा करने को भेजा। इन्द्र के आज्ञानुसार अप्सरायें नाना विधि क्रीड़ा कर ऋषि का तपोभंग करने की चेष्टा करने लगीं। किन्तु

ऋषि योगदृष्टि से इन के आने का अभिप्राय जान मन ही मन हंसे और योगबल से इन अप्सराओं के अनुरूप हजारों अप्सरायें खड़ी कर इन्द्र की भेजी हुई अप्सराओं के अतिथि-सत्कार में उन्हें नियुक्त किया। यह देख अप्सराओं ने लज्जित हो उन के निकट अपनी २ पापकामना की क्षमा प्रार्थना की; तब ऋषि ने प्रसन्न हो उन लोगों से वर मांगने को कहा। पापिनी अप्सराओं ने उन से यह वर मांगा कि आप ही हम लोगों के भर्त्ता और आश्रय हों। यह सुन ऋषि बड़े संकट में पड़े, पर "दूंगा" जब ऐसा कह चुके थे, तो बात कैसे फेरते। उदास हो कर मन ही मन पछताने लगे कि मेरा अहंकार ही इस विषम सङ्कट का कारण हुआ, इस में कोई सन्देह नहीं। सब धर्मों के नाश का कारण एक मात्र अहङ्कार ही है। निदान देवकन्याओं को सम्बोधन कर कहा "मैं ने यह प्रतिज्ञा की है कि इस जीवन में फिर कभी गार्हस्थ्य धर्म्म अवलम्बन न करूंगा, पर दूसरे जन्म में जब और २ दूसरे कामों के लिए मैं जन्म लूंगा, तब इस प्रतिज्ञा का पालन करूंगा। तुम लोग बड़े २ वंशों में जन्म ग्रहण करोगी; मैं सबों से विवाह कर उस वृहत् परिवार का भार वहन करूंगा।"

गाधि देश के राजा विश्वामित्र क्षत्रिय वंश में पैदा हुए थे। एक समय दिग्विजय कर सेना के साथ महर्षि वशिष्ठ के तपोवन में उपस्थित हुए। सेना को दूर छोड़ आप भक्तिपूर्व्वक महर्षि की चरणवन्दना के लिए गये; वशिष्ठ ने यथायोग्य सन्मान और आदर के साथ उन का सत्कार किया। पीछे सेना कहीं तपोवन की शान्ति भङ्ग न करे, इस भय से जब विश्वामित्र वहां से उठने लगे तब महर्षि ने राजा को ससैन्य आतिथ्य स्वीकार करने का अनुरोध

किया । किन्तु विश्वामित्र ने इतने सैन्य का आतिथ्य-भार महर्षि के ऊपर देना उचित न समझ कर बार २ अनिच्छा प्रगट की; महर्षि ने भी बार २ बहुत तरह से आतिथ्य स्वीकार करने का अनुरोध कर कहा कि मैं अपने तपोबल और कामधेनु की बेटी नन्दनी की सहायता से आप के असंख्य अनुचरों को सब तरह के राजोचित भोग विलास से सन्तुष्ट कर सकूंगा । इस प्रकार वशिष्ठ के मन में अहङ्कार का सञ्चार हुआ । निदान राजा ने ससैन्य उन का आतिथ्य स्वीकार कर कामधेनु नन्दनी की अपूर्व्व महिमा प्रत्यक्ष देखी । उस समय राजा के मन में लोभ का उदय हुआ । वे मन ही मन इस प्रकार विचारने लगे कि "तपस्वी ब्राह्मण को ऐसी गाय से क्या प्रयोजन है । यह तो केवल राजा के ही उपयुक्त है ।" अनन्तर विश्वामित्र ने वशिष्ट से वह गाय मांगी । वशिष्ठ उदास हो कर बोले "अच्छा, यदि नन्दनी अपनी इच्छा से मुझे त्याग आप के साथ जाय तो आप ले जांय ।" प्रभुभक्त सुरभी किसी प्रकार जाने को राजी नहीं हुई । कोई दूसरा उपाय न देख राजा के अनुचरवर्ग उसे बलपूर्व्वक खींच कर ले जाने लगे । यह देख नन्दनी करुण स्वर से अपने प्रभु वशिष्ठ के शरणापन्न हुई । उस समय अहङ्कार का चिर अनुचर क्रोध ने आ कर महर्षि वशिष्ठ के हृदय पर अपना अधिकार जमाया, जिस का परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण और क्षत्री में ऐसा घोर संग्राम उपस्थित हुआ कि उस के फल से सम्पूर्ण देश के इतिहासों को अपना आकार बदलना पड़ा । नन्दनी के शक, पहलव, यवन और वर्व्वर प्रभृति अनार्य्य जातियों का शरण लेने पर विश्वामित्र ने उन सबों को मार डाला तो सही, किन्तु अन्त में वशिष्ठ की

ब्रह्मशक्ति के सामने विश्वामित्र की क्षत्रिय शक्ति को परास्त होना पड़ा। इसी पश्चात्ताप और वैराग्य से विश्वामित्र ने राज त्याग कर ब्रह्मशक्ति प्राप्त करने के लिए बहुत समय तक कठिन आत्म-संयम और तपस्या कर ब्रह्मशक्ति प्राप्त की। वशिष्ठ ने उन्हें ब्रह्मर्षि माना और दोनों में शान्ति स्थापित हुई।

देवताओं का राजा होने से, सब प्रकार देवताओं पर आधिपत्य प्राप्त करने से सहज में ही मन अभिमान से फूल सकता है। इसी से इन्द्र को कितनी ही बार अपने उच्च पद से भ्रष्ट होना पड़ा था। एक समय वह देवताओं से घिरे अपने सिंहासन पर बैठे थे कि इतने में देवगुरु बृहस्पति आ पहुंचे। गुरु के सम्मानार्थ इन्द्र ने आसन नहीं छोड़ा। बृहस्पति इस प्रकार अपमानित होने के कारण देवताओं को छोड़ कर वहां से चल दिये। इस का फल यह हुआ कि असुरों ने उन के विरुद्ध संग्राम में जय प्राप्त किया, और इन्द्र देवताओं के सहित स्वर्गच्युत हुए। इस से बहुतेरी आपदायें उपस्थित हुईं, यहां तक कि दो बार इन्द्र को ब्रह्महत्या करनी पड़ी। पीछे बहुत प्रायश्चित और तपस्या करने पर उन्हें अपनी पूर्व पवित्रता प्राप्त हुई।

इन्द्र के प्रायश्चित और तपस्या में प्रवृत्त रहने के समय, जिस में किसी तरह स्वर्ग में अराजकता न हो, इसी उद्देश से देवताओं ने मृत्युलोक के चन्द्र वंशी राजा नहुष को स्वर्ग का राजा बनाया; क्योंकि और कोई इस महोच्च पद के लिए योग्य न समझा गया। नहुष इन्द्र की अपेक्षा दोर्दण्ड प्रताप से राज्य करने तो लगे पर दिन २ उन के मन में अहङ्कार का संचार होने लगा और शीघ्र ही उस के पीछे पापबुद्धि उन के हृदय

में उदित होने लगी । उस समय उन ने देवताओं से कहा "जब मैं इन्द्र के राज्य का भार उठा रहा हूं तब उन के भोग विलास पर भी मेरा अवश्य अधिकार है । अतएव इन्द्रपत्नी शची मेरे सम्मुख आवें ।" देवता लोग यह सुन कर अत्यन्त दुखित हो परस्पर कानाफूसी करने लगे कि अब नहुष देवलोक में राज्य करने के योग्य नहीं रहे । उन लोगों को यह भी मालूम था कि इन्द्र के स्वर्ग लौट आने का समय निकट आ पहुंचा है। पर किस का इतना सामर्थ्य था कि अगुवा बन नहुष के मुंह पर ऐसी बात कहे ? पूर्व कर्मों के बल से नहुष राजा ने जो असाधारण बल प्राप्त किया था वह केवल ऋषि के कोपानल से ही विनष्ट हो सकता था। यदि वह किसी महा पापाचरण से किसी महर्षि का कोपानल प्रज्वलित करे तो उस का पराजय अवश्य हो सकता था। देवताओं ने मंत्रणा कर नहुष को यह कहला भेजा कि यदि ऋषियों के कन्धे पर चढ़ कर नहुष आवें तो शची मिल सकती हैं । नहुष ने तुरत ऋषियों के द्वारा अपनी पालकी उठाई जाने की आज्ञा दी । अगस्त्यादि ऋषियों को राजा के आज्ञानुसार पालकी ढोने को कहा गया । उन लोगों ने नम्र भाव से "तथास्तु" कह कर पालकी को कन्धे पर उठा लिया । रास्ते में गर्व और उल्लास से फूले अंगो न समाते हुए नहुष ने अगस्त्य मुनि के सिर पर एक लात मारी और तेज चलने के लिए कहा । अगस्त्य मुनि ने नहुष का काल सन्निकट समझ कर उन्हें श्राप दिया । नहुष इस श्राप से पतित हो कर मर्त्यलोक में एक अजगर सर्प के रूप में बहुत दिनों तक कारागृह वास का कष्ट झेलते रहे, क्योंकि उच्चवृत्तिसम्पन्न महोन्नत जीवात्मा के लिए अति नीच सर्प शरीर

में आबद्ध होना साधारण कारावास की अपेक्षा सहस्र गुण दुःखदाई है । इसी प्रकार कई युग बीतने पर अपने वंशोद्भव अजात शत्रु युधिष्ठिर के ज्ञानपूर्ण उपदेश से नहुष इस कारागृह से मुक्त हुए ।

विरोचन के पुत्र बलि बहुत काल तक विपुल ऐश्वर्य्य भोग करते रहे, कारण उन की सुकृति से लक्ष्मी की उन पर कृपा थी । अपनी साधुता और पुण्य कर्मों के प्रताप से मुझे इस विपुल ऐश्वर्य और सुख का भोग मिला है, यह विचार कर उन के मन में अहङ्कार और आत्माभिमान का प्रवेश हुआ, जिस से वे अपने को प्रधान और दूसरों को अति सामान्य समझने लगे । अब वे पहले की तरह सभों की भलाई की चेष्टा न कर उन की बुराई करने में तत्पर हुए । उस समय लक्ष्मी बलि से असंतुष्ट हो, उन्हें छोड़ उन के शत्रु स्वर्गाधिपति इन्द्र के यहां चली गईं । जो लक्ष्मी प्रसन्नता-पूर्व्वक इतने दिनों तक उन की सेवा करती रहीं, आज उन को अपने शत्रु की दासी देख, बलि अपनी मूर्खता और मन्दभाग्य पर व्यर्थ विलाप करने लगे । राजा मान्धाता को उतङ्क ने कहा था "यही द्वेष और गर्व्व का परिणाम है । हे मान्धाता, अभी भी चेत करो जिस से लक्ष्मी तुम्हें छोड़ कर न चली जांय । श्रुति में कहा है कि पाप के अहङ्कार नामक एक पुत्र ने लक्ष्मी के उदर से जन्म लिया । राजन ! वही अहङ्कार अनेकों सुरासुर के पतन का कारण हुआ । उसी के कारण अनेकों राजर्षियों का भी पतन हुआ । जो अहङ्कार को जीत सकते हैं वे ही राजा होते हैं । इस के विरुद्ध जो अहङ्कार से पराजित होते हैं वे गुलाम से भी अधम हैं ।"

अभिमानी के चरित्र का श्री कृष्ण ने बड़े उज्ज्वल अक्षरों में चित्र खींचा है—

"इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशोमया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥"

(गीता १६ । १३-१५)

मनवाञ्छित मैं यह लह्यौं लहवौ चाहत जाह ।
यह धन मेरे है जुरो जुरिहै और हमाह ॥
यह मैं पायो है अबै लहौं मनोरथ और ।
यह धन मेरे गेह में जोरो है बहुठौर ॥
यह वैरी है मैं हन्यो करौं और को अन्त ।
ईश्वर हौं भोगी जु हौं सुखी सिद्ध भगवन्त ॥
मैं हौं धनी कुलीन हौं और न मोहिं समान ।
यजौं देहुं मोदहि लहौं मोहित यों अज्ञान ॥

छोटे के सद्गुणों का अनुसन्धान कर उस की प्रशंसा करनी चाहिए। गुणग्राहिता विशेष कर मंगल का निदान है। यह कहना व्यर्थ है कि सत्कर्म की प्रशंसा करने से और सद्गुणों का आदर करने से युवक लोग सदाचरण में अधिकतर उत्साहित होते हैं। इस के प्रतिकूल अपनी दुर्बलता, दोष और निकृष्टता की बात मन में जम जाने से उन्हें अपनी उन्नतिशीलता और सामर्थ्य वृद्धि-

योग्यता पर भरोसा नहीं रहता। सब ही कार्यों में अपने को असमर्थ जान वे क्रमशः उद्यमहीन और अकर्मण्य हो जाते हैं। बहुधा गुणग्राही की प्रशंसा की एक ही दो बात उद्यमहीन के उत्साह को बढ़ा देती है और उत्साही के हृदय को ऐसा खिला देती है, जैसा सूर्य के किरणों से कमल की कलियां खिल जाती हैं।

छोटे के प्रति व्यवहार में सहिष्णुता की बड़ी आवश्यकता है। स्वभाव से ही उस की शक्ति थोड़ी, बुद्धि थोड़ी, स्मृति थोड़ी और कार्य्य की दक्षता थोड़ी है; इस से यदि बड़े लोग उस के प्रति असहिष्णुता और अवज्ञा दिखावें, तो उस की बुद्धि संकुचित हो जाती है और वह किमकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है। बच्चों और नौकरों के साथ सब से अधिक सहिष्णुता दिखाने का प्रयोजन है। वास्तव में बलवानों की शक्ति निर्बलों की रक्षा और सहायता के लिए ही है—उन को नष्ट कर देने वा डर दिखाने के लिए नहीं।

किसी कवि ने कहा है—

विद्या विवादाय धनम् मदाय, शक्तिः परेषां परिपीड़नाय।
मूर्खस्य विज्ञस्य विपरीतिमेतत्, ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥

सहिष्णुता मधुमय, अटल और अचल है; सहिष्णुता प्रकृत शक्तिशाली और महत् चरित्रों का परिचायक है। सहिष्णुता, गुणग्राहिता और क्षमाशीलता माता, पिता और शिक्षक के लिए विशेष रूप से आचरणीय है। कभी २ छोटे भी धीर बुद्धि द्वारा क्रोध और गर्व-जनित पापाचरण से बड़े की रक्षा कर सकते हैं। प्राचीन समय में किसी एक लड़के ने इसी तरह पाप से अपने पिता को

रक्षा की थी। अंगिरा के गोत्रज गौतम के पुत्र चिराकारी बहुत सोच समझ कर काम करते थे। इसी से उन का नाम चिराकारी था। वह बड़े सावधान और विचारशील थे। एक दिन अपनी स्त्री के चरित्र पर संदेह कर गौतम ने अपने पुत्र को आज्ञा दी "इस को मार डालो।" चिराकारी बड़ी देर तक सोचते रहे कि क्या करूं। एक ओर पिता का आज्ञापालन अवश्य कर्त्तव्य है, दूसरी ओर पवित्र मातृदेह पर कृतघ्नता और श्रद्धा छोड़ी नहीं जाती। इन दो संकटों में पड़ कर चिराकारी सोचने लगे कि किस तरह इन पापों से बचूं। मैं तो माता पिता दोनों की ही सन्तान हूं। पिता ने मुझे विद्या, बुद्धि, ऐश्वर्य और सर्व्वस्व दिये हैं; उन के सन्तुष्ट होने से सब देवता सन्तुष्ट होते हैं; उन के आशीर्वाद से पुत्र को सब सिद्धि मिलती है। पर माता ने शरीर दिया है; वह मेरे असहाय बचपन में मेरी अवलम्ब थी; मातृहीन सन्तान की आंखों में जगत शून्य मालूम होता है। माता के समान आश्रय, अवलम्ब और सहाय दूसरा नहीं। माता के समान प्रिय संसार में और कुछ नहीं। चिराकारी फिर सोचने लगे "स्वामी को स्त्री का भर्त्ता और पति कहते हैं। यदि वह उस के पोषण और रक्षण से विरक्त हो, तो कैसे वह उस का भर्त्ता और पति कहा जा सकता है। पर माता मेरे लिए सर्वोपरि पूजा हैं।" इधर गौतम का ध्यान टूटने और चित्त शान्त होने पर वह विचार करने लगे कि पुत्र को मातृहत्या करने की आज्ञा दे कर मैं किस पाप में फंसा। अपनी असावधानता ही स्त्री के पापाचरण का कारण हुआ, इस तरह सोचते २ सजलनेत्र व्याकुलचित्त गौतम जब घर लौटे तो यही मनाने लगे कि पुत्र मेरा आज्ञापालन न किये हो। पुत्र का नाम

कारण होते ही कहने लगे "वत्स ! मुझे, अपनी माता को, मेरी समस्त सञ्चित तपस्या को, और अपनी आत्मा, इन सब को तुम इस महा पातक से रक्षा करो।" वास्तव में ही चिरकारी ने अपनी विचारशीलता और सहिष्णुता से पिता की अनुचित आज्ञा के बदले उन के असली अभिप्राय को जान उचित व्यवहार कर उन्हें क्रोध-जनित महा पाप से बचाया।

"अहिंसयैव भूतानां कार्य्यं श्रेयोऽनुशासनम् ।
वाक्चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्म्ममिच्छता ॥"

(मनु २ अ: १५९)

धरे अहिंसा जीव की करे धर्म अनुराग ।
मधुर मनोहर बचन नित कहै सदा छल त्याग ॥

* * * *

"रक्षणादार्य्यवृत्तानां कन्टकानां च शोधनात् ।
नरेन्द्रास्त्रिदिवं यान्ति प्रजापालन तत्पराः ॥"

(मनु ९ अ: २५३)

आर्य्य धर्म रक्षा किये कंटक सकल बिनाश ।
प्रजा वर्ग पालक नृपति करे स्वर्ग में वास ॥

* * * *

"स्वे स्वे धर्म्मे निविष्टानां सर्व्वेषामनु पूर्व्वशः ।
वर्णानामाश्रमानां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता ॥"

(मनु ७ अ: ३५)

निज निज धर्म निविष्ट जो वर्णाश्रम नर नार ।
तिनकौ रक्षा हेतु विधि दिये भूप अधिकार ॥

* * * *

"यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति ।
तथा रक्षेत् नृपो राष्ट्रं हन्यात् च परिपन्थिन: ॥"

(मनु ७ अ: ११०)

रक्षा करता धान्य की मनुज दूर कर घास ।
राजा नृपति रखता तथा कर के शत्रु विनाश ॥

* * * *

"सुवासिनी: कुमारीश्च रोगिणो गर्भिणीस्तथा ।
अतिथिभ्योऽग्र एवैतान् भोजयेद् विचारत: ॥"

(मनु ३ अ: ११६)

कन्या रोगी गर्भिणी नव विवाहिता नार ।
अभ्यागत को पूर्व ही भोजन बिना विचार ॥

* * * *

"चक्रिणो दशमिस्थस्य रोगिणो भारिणो स्त्रिया: ।
स्नातकस्य च राज्ञश्च पन्था देयो वरस्य च ॥"

(मनु २ अ: १३८)

शकटारोही, वृद्ध पुनि, रोगी, धारे भार ।
नारी स्नातक भूप लख तजिये मार्ग विचार ॥

* * * *

"न कामयेऽहंगतिमीश्वरात् परां
अष्टर्द्धि युक्काम पुनर्भवं वा ।
आर्त्तिंप्रपद्येऽखिल देह भाजाम्
अन्त: स्थितो येन भवन्त्य दुखा: ॥
क्षुत्तृट् श्रमोगात्र परिश्रमश्च
दैन्यं क्रम: शोक विषाद मोह: ।
सर्व्वे निवृत्ता: कृपणस्य जन्तो:
जिजी विषोर्जीव जलर्पिणात्मे ॥"
(श्रीमद्भागवत ९ । २१-१२-१३)

नहीं परागति चाहते ईश्वर से निर्वाण ।
अष्ट सिद्धि की चाहना नहीं हमें सुख खान ॥
सब जीवों के हृदय में बस हम पावें पीर ।
उन की जो वे सब बनें सुखी और बे पीर ॥
क्षुधा तृषा श्रम दैन्य पुनि क्लेश देह की पीर ।
शोक मोह आदिक सकल परम विषाद गंभीर ॥
जीवन इच्छार्थी जु मैं तिस के सब जंजाल ।
हुए दूर प्रभु की कृपा पावन दीन दयाल ॥

* * * *

"अनु क्रोशोहिसाधू नामा महद्धर्मस्यलक्षणं ।
अनु क्रोशश्च साधूनां सदा प्रीतिं प्रयच्छति ॥"
(महाभारत अनुशासन पर्व्व ५ । २८)

दया साधु की जानिये आपद धर्म महान ।
दया किये बढ़ती सदा प्रीति परम सुख खान ॥

सप्तम अध्याय।

गुण और दोष के पारस्परिक प्रतिक्रिया।

अब तक हम लोगों ने बहुतेरे गुण और दोषों की बातों का अलग २ विचार किया है। बहुतेरे उदाहरणों के द्वारा सिद्ध हुआ है कि सद्गुण ही सुख का और अवगुण ही दुःख का निदान है। किस तरह से एक व्यक्ति के सद्गुण से दूसरे के चरित्र में सद्गुण जाग्रत होता है वा किस तरह एक का दोष दूसरे के हृदय में दोष उत्पन्न करता है, अब उसी का विचार करें। इस विचार से हम लोग समझ सकेंगे कि किस तरह दूसरों को सत्‌विचार और सत्कार्य्य में लगा कर उन के सुख और शांति की वृद्धि करने में समर्थ हो सकेंगे। जिस तरह औरों को प्यार कर उन्हें भी प्यार करना सिखाते हैं, उसी तरह औरों की घृणा कर उन्हें भी घृणा करना सिखाते हैं। प्रतिवासी के भाव से अनुभावित होना मनुष्य का स्वभाव है। तुम जिस को जिस भाव से देखोगे, तुम उस के विषय में अपने हृदय मे जिस भाव का पोषण करोगे उस के बदले तुम्हारे प्रति भी उस के हृदय में वही भाव उत्पन्न होगा। क्रुद्ध व्यक्ति के निकटस्थ व्यक्तियों के मन में भी क्रोध उत्पन्न होता है। इस से कलह प्रादुर्भूत हो कर उत्तरोत्तर वर्द्धित होता है। रुष्ट वाक्य के प्रत्युत्तर में क्रोध वाक्य उच्चारित होते ही कलह की तीव्रता बढ़ जाती है। इस के प्रतिकूल मधुर वाक्य से मधुर वाक्य प्रणोदित होता है; दया करने से दूसरों के

हृदय में दया का सञ्चार होता है, और तुम्हारा सत्कार्य्य दूसरों को सत्कार्य्य करने को प्रणोदित और उत्साहित करता है। यह नित्य देखने में आता है कि एक के हृदय के भाव दूसरे के हृदय में सञ्चालित होते हैं; एक के गुण और दोष उस के निकटवर्ती दूसरों के चरित्र में संक्रामित होते हैं। मनोयोग सहित परस्पर के मनोभाव और उन से उत्पन्न हुए कार्य्य-कलापों की पर्य्यालोचना करने से ही इस बात को यथार्थता जान पड़ती है। इस तत्व को अच्छी तरह समझ लेने से हम लोग अपने मन में अच्छे भावों का उद्दीपन और पोषण कर बुरे भावों को रोक सकते हैं। मेरे प्रति औरों के कुभाव दिखाने पर भी, उस के ऐसा अपने मन में कुभाव उठने न दे कर उलटा उस के प्रति सुभाव दिखा कर उस के हृदय में भी सुभाव जाग्रत कर सकता हूं। यदि कोई मेरे साथ क्रोध-वाक्य का प्रयोग करे तो इस में सन्देह नहीं कि प्रत्युत्तर में क्रोध-वाक्य प्रयोग करने की इच्छा मेरे मन में भी होगी; पर उस भाव को दबा कर मृदु भाव से उस का सदुत्तर देने से अवश्य ही उस का क्रोध शान्त हो जायगा। इसी को बुराई के बदले भलाई करना कहते हैं। सदाचार द्वारा दुराचार का बदला लेने से हम लोग समाज की अशान्ति को दूर कर शान्ति-स्थापन कर सकेंगे; और इसी से सबों में प्रीति और सुख की वृद्धि होगी। साधारणतः समस्वभाव और सम्पदस्थ लोगों में ऊपर लिखी रीति से दोष और गुण की प्रतिक्रिया होती रहती है, अर्थात् यदि हम किसी को प्यार करें तो वह हम को भी प्यार करेगा; द्वेष वा घृणा करने से उस के मन में भी द्वेष वा घृणा होगी। क्रोध से क्रोध, विरक्ति से विरक्ति, सहिष्णुता से सहिष्णुता उत्पन्न होती है।

पर समान व्यक्ति में न हो कर यदि असमान व्यक्तियों में, अर्थात् बड़े और छोटे के बीच दोष और गुण की प्रतिक्रिया की पर्यालोचना की जाय, तो मालूम होगा कि उन में दोष और गुण की प्रतिक्रिया से ठीक उसी गुण और दोष का आविर्भाव न हो कर उसी जाति का या उसी भाव का दोष या गुण दूसरे के हृदय में उत्पन्न होता है । यदि बड़ा छोटे के साथ प्रेम करे तो छोटे के हृदय में प्रेमभाव का आविर्भाव होता है सही, पर वह प्रेम छोटे के योग्य प्रेम का आकार धारण कर लेता है, अर्थात् बड़े के प्रेम की प्रतिक्रिया से छोटे के मन में भक्ति, श्रद्धा, सेवापरायणता, इत्यादि गुणों की उत्पत्ति होती है । इसी तरह बड़े की उदारता की प्रतिक्रिया से छोटे के मन में कृतज्ञता, तथा कृपा की प्रतिक्रिया से श्रद्धा उत्पन्न होती है । विपरीत इस के बड़े के द्वेष और घृणा की प्रतिक्रिया से छोटे के मन में भय, प्रतिकूलता, प्रवञ्चना, विश्वास-घातकता, प्रतिहिंसा प्रभृति दोषों की उत्पत्ति होती है । जिस समय निर्दयी कौरवों ने शठता और धूर्त्तता से पांडवों को राज्य-च्युत कर वनगमन करने के लिए बाध्य किया, उस समय द्रौपदी के राजा युधिष्ठिर को कौरवों के विरुद्ध युद्ध करने के लिए उत्तेजित करने पर, राजा युधिष्ठिर ने उन लोगों को धीरता के साथ यह समझा दिया कि असत् व्यवहार के बदले असत् व्यवहार करने से उत्तरोत्तर अमङ्गल की वृद्धि होती है । ज्ञानी लोग दूसरों से पीड़ित हो कर भी क्रोध को रोक कर आप सब अत्याचार सह लेते हैं; और इस लोक में पीड़ा देने वाले के अत्याचार की उपेक्षा कर परलोक में सुख भोग करते हैं । इसी से कहा है कि ज्ञानी, निर्बल हों वा सबल हों, वे दुख देने वाले पर सदा क्षमा ही किया करते हैं ।

यदि पीड़ा देने वाला विपदग्रस्त हो तो ज्ञानी उस का उपकार ही करते हैं। यदि मानवजाति में कोई भी पृथ्वी के समान क्षमाशील नहीं होता, तो मनुष्य-समाज में शान्ति कभी नहीं रहती, और नित्य प्रति क्रोध-जनित विवाद और विप्लव होते रहते। यदि किसी के अपकार करने पर उस के साथ भी अपकार ही किया जाय, यदि छोटे को दण्ड देने पर उस के अनुरूप बड़े के साथ भी वही वर्ताव किया जाय तो संसार के सब जीवों का नाश अवश्य हो, और संसार में पाप का ही राजा बना रहे। यदि सब कोई दूसरों के मुंह से दुर्वाक्य सुन कर प्रत्युत्तर में दुर्वाक्य का ही व्यवहार करें, यदि अपकृत व्यक्ति मात्र ही बदला लेने लगें, यदि दण्डित व्यक्ति मात्र ही शासन कर्त्ताओं को भी बदले में दण्ड देने लगें, तो पिता पुत्र को, पुत्र पिता को, स्वामी स्त्री को, और स्त्री स्वामी को मार डाले। अतएव ऐसी क्रोध-पूर्ण पृथ्वी में जीव को उत्पत्ति की सम्भावना नहीं रहती, क्योंकि शान्ति के बिना किसी जीव की उत्पत्ति नहीं होती।

राजा दशरथ ने किस भांति विनय और शान्तिभाव से राम-विरह-विह्वला कौशल्या के क्रोध को शान्त किया था उसे सुनो। असाधारण पुत्र रामचन्द्र के वनवास की आज्ञा को सुन कर व्यथित हो कौशल्या मारे क्रोध के कड़े स्वर से अपने स्वामी से बोली "तुम ने निरपराध पुत्र को अपने हाथों वध किया। तुम्हारे पूर्व्व पुरुष अत्यन्त दुःख सह कर जिस कठिन धर्म्म-मार्ग पर चले आते थे, उस सनातन नीति-पथ पर तुम अच्छी तरह चलना आरम्भ किये हो! पति ही स्त्री-जाति का प्रथम आश्रय है, पुत्र दूसरा और अपने लोग तीसरा, किन्तु चौथा आश्रय कोई नहीं

है । तुम ने मुझे त्याग किया, राम भी चले गये, मैं भी तुम्हें त्याग कर राम के निकट जा नहीं सकती । तुम ने सब तरह से मेरा नाश किया । राजा और प्रजा को भी चौपट किया ।"

राजा दशरथ इन तीव्र तिरस्कारों से जितना दुखी नहीं हुए उस से अधिक राम के वनवास से हुए थे । उन के मन और प्राण विकल थे; वे संज्ञा-शून्य हो गये थे । मूर्च्छा भंग होने पर कौशल्या को अपने निकट देखते ही उन को अपना पूर्व्वकृत पाप—जिस पाप के फल से यह महाशोक हुआ था—याद आया । इन सब पूर्व्व पाप की चिन्ता और राम-वियोग-जनित सन्ताप के दुःख से व्याकुल हो हाथ जोड़ सिर नीचा कर कौशल्या से बोले—"कौशल्या ! क्षमा करो । मैं हाथ जोड़ कर यह भिक्षा तुम से मांगता हूं, क्षमा करो । तुम सदा से ही सब पर दया करती हो । स्वामी भला या बुरा जैसा हो उस का अपराध क्षमा करो । मैं दुःख के भार से दबा जा रहा हूं; और दुर्वाक्य-बाण मत चलाओ ।" कौशल्या सिर नीचा किए राजा की करुणामय वाणी सुन कर आंसू को रोक न सकीं; उन की आंखों से नये मेघ की धारा की तरह आंसू बह निकला । उन का क्रोध दूर हुआ, और स्वामी के प्रति कठोर वचन प्रयोग करने के कारण उन के मन में घोर पश्चात्ताप और पाप की शंका उपस्थित हुई । राजा के दोनों हाथों को अपने मस्तक पर रख गद् गद् स्वर से बोलीं "मेरा अपराध क्षमा कीजिए, मैं आप के पैरों पड़ कर दीनता-पूर्व्वक प्रार्थना करती हूं कि क्षमा कीजिए; मुझे ही आप को क्षमा करना चाहिए, क्योंकि जो भारी पाप मैं ने किया है उस को आप यदि क्षमा न करें, तो मेरा कभी निस्तार नहीं है ।

जो पापिनी स्त्री अपने पति को क्षमा मांगने, अपने को प्रसन्न कराने के लिए विवश करती है, वह इस लोक में विद्वानों की प्रशंसा-भाजन नहीं होती। राजन्! मैं धर्म्म जानती हूं और विशेष रूप से समझती भी हूं कि आप धर्मज्ञ हैं; इस लिए मैं आप की सत्यरक्षा अवश्य करूंगी। पुत्र शोक से हतज्ञान हो कर ही यह दुर्वाक्य मैं ने कहा। शोक धैर्यनाशक और शोक ज्ञान-नाशक है। शोक के समान और कोई दूसरा शत्रु नहीं। जब मैं प्रिय पुत्र के वनवास की बात याद करती हूं, तो वर्षा काल की नदी सा मेरा हृदय शोक से उमड़ उठता है।" इस तरह दशरथ की विनती और सहिष्णुता से कौशल्या की कठोरता दूर हुई। पर यदि वह दुर्वाक्य द्वारा कौशल्या को प्रत्युत्तर देते, तो विरोध बढ़ कर इन दोनों का एक पुत्र-शोक दोनों को न मिला कर उल्टा उन्हें अलग कराता। पर उन ने स्त्री के गर्व्व को दीनता द्वारा, तिरस्कार को मधुर तथा नम्र वाक्य द्वारा और क्रोध को स्नेह द्वारा शान्त किया, जिस से कौशल्या का हृदय क्रोध के बदले दीनता और करुणा से आर्द्र हो गया।

इसी प्रकार श्री रामचन्द्र जी ने लक्ष्मण के क्रुद्ध अन्तःकरण से भरत के प्रति द्वेष को दूर कर उस के बदले उन के हृदय में विश्वास का उद्रेक कर दिया था। भाई और स्त्री के साथ रामचन्द्र के अयोध्या त्याग कर वनवास करने के पीछे एक दिन उन्हीं ने अपनी कुटी से थोड़ी दूर पर अस्पष्ट सेना का कोलाहल सुन कर लक्ष्मण को वृक्ष पर चढ़ कर इस का कारण जानने के लिए कहा। लक्ष्मण ने देखा कि सेना के साथ भरत आ रहे हैं। वनवास के दुःख से उन का मन डोल गया; उन्हीं ने भरत

पर सन्देह कर रामचन्द्र के पास आ उन से भरत के विरुद्ध युद्ध करने के लिए प्रस्तुत होने की आज्ञा चाही। उन को यह विश्वास हुआ कि भरत उन लोगों को मार कर निष्कंटक राज्य करने के लिए आ रहे हैं; पर श्री रामचन्द्र के हृदय में भरत के भ्रातृ प्रेम के विषय में कोई सन्देह नहीं था। वह भरत को बहुत ही प्यार करते थे। लक्ष्मण से उन्हों ने कहा "भाई! भरत से अविश्वास मत रखो। मैं अभी भरत से कहता हूं कि लक्ष्मण को सम्पूर्ण राज दे दो। भरत प्रसन्नता से 'लीजिए; दिया।' कह तुरत तुम्हें सर्वस्व दे देंगे।" यह सुन कर लक्ष्मण के मन में क्रोध की जगह लज्जा हुई। इतने में भरत आ पहुंचे और रामचन्द्र को अयोध्या लौटा ले जाने के लिए बड़ी व्यग्रता दिखाई; पर रामचन्द्र ने पिता के सत्यपालन व्रत को भङ्ग नहीं किया। निदान भरत ने श्री रामचन्द्र के खड़ाऊं को ले कर अयोध्या के राजसिंहासन पर धर कर रामचन्द्र के प्रतिनिधि-स्वरूप चौदह वर्ष राज चलाया।

वनवास के समय द्रौपदी और भीमादि ने युधिष्ठिर को अपनी प्रतिज्ञा भङ्ग कर युद्ध करने के लिए बार बार उत्तेजित किया था। पर शान्तस्वभाव युधिष्ठिर ने अपनी स्त्री और भाइयों के असह्य तिरस्कार और उत्तेजना की बातों पर ध्यान न दे कर शान्त और नम्र वचनों से उन लोगों को सत्य और न्याय का मार्ग दिखाया। एक समय भीम ने अत्यन्त क्रुध हो कर जुआड़ियों के साथ प्रतिज्ञा पालन करना अनुचित बतला अपने बड़े भाई को डांटा था। उन का कहना यह था कि उन ने अकारण अपना राजा खोया और साहस की हीनता से क्षत्रिय धर्म को छोड़ लोक-समाज में अपना और वीर श्रेष्ठ अपने भाइयों की भी हंसी

कराई । पर युधिष्ठिर इन वाक्य-बाणों से विचलित न हो थोड़ी देर तक चुप रहने के बाद बोले—"भीम ! मैं तुम्हारे कठोर वाक्य-बाण के लिए तुम्हें कुछ दोष नहीं देता । तुम्हारी बातों से मेरे हृदय में दुःख होने पर भी मैं तुम्हें उस के बदले कुछ न कहूंगा, क्योंकि मेरी मूर्खता से ही तुम लोगों को यह दुःख भोगना पड़ा है । अपने मन को रोकना मुझे उचित था । मुझ को स्वार्थपरता और अहंकार के वश में होना उचित नहीं था । पर भाई ! मैं ने जो प्रतिज्ञा की है उसे अवश्य करूंगा । मेरे विचार में झूठ बोल कर राजा पाने की अपेक्षा मरना श्रेष्ठ है । तुम लोगों का दुःख देख कर मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है, पर तौभी भाई ! प्राण रहते तो प्रतिज्ञा भङ्ग नहीं कर सकूंगा । अतएव मुझे दुर्वाक्य कहना व्यर्थ है । भाई ! सुदिन की प्रतीक्षा करो । किसान अपने पैदावार के लिए कभी व्यस्त नहीं होता । भीम ! मेरे लिए प्रतिज्ञा भङ्ग करना अनुचित है; क्योंकि धर्म की रक्षा करनी जीवन यहां तक कि स्वर्ग के सुख से भी बढ़ कर है । राजा, पुत्र, यश, धन, स्वर्ग इन सब को इकट्ठा करने पर भी सत्य के एकांश के बराबर ये नहीं होते ।" इसी प्रकार वह धैर्य के साथ भाइयों के डांट डपट को सह लेते थे और सब दोष अपना ही मान लेते थे । इसी कारण उन के भाइयों का क्रोध बढ़ नहीं सकता था ।

जिस तरह मधुर सहानुभूति से प्यार का उद्रेक होता है, उसी तरह बिना कारण हंसी करने से घृणा की उत्पत्ति होती है; और घृणा या द्वेष से जो बहुतेरे अनर्थों का आविर्भाव होता है, वह कहना बाहुल्य मात्र है । राजा युधिष्ठिर का यश दिग्-दिगन्त में फैल गया था । उन के राजसूय यज्ञ के ऐश्वर्य

की बात सबों के मुंह से निकला करती थी। पर इसी यश सौरभ से प्रतिद्वन्द्वी दुर्योधन के हृदय में ईर्षा का उदय हुआ था और वही ईर्षा भीम प्रभृति की अनुचित हंसी और कर्कश व्यवहार से अधिक बढ़ती और विषैली होती गई। किसी समय राजा युधिष्ठिर अपने मन्त्री, मित्र और भाइयों के साथ राजसभा में विराज रहे थे कि इतने में दुर्योधन अपने भाइयों के साथ वहां आ उपस्थित हुआ। मयदानव के शिल्पचातुर्य से बना हुआ मायामय सभामण्डप के इन्द्रजाल से दुर्योधन की आखों में चका चौंध लग गई। स्फटिक बिछे हुए आंगन को जलाशय समझ उसने अपने कपड़े सम्हाल पैर रखा और जलाशय को स्थल समझ उस में गिर अपने कपड़े भींगो दिए। भीम ने उन की यह परिहास-जनक अवस्था देख बड़े ठहाके के साथ ठट्ठा किया और दूसरों ने भी देखा देखी वैसाही किया। यद्यपि युधिष्ठिर ने उन लोगों को इस घृणा-सूचक व्यवहार के लिए बहुत डांटा, तौभी दुर्योधन के मन में इस हंसी के कारण लज्जा और क्रोध दोनों एक साथ ही उत्पन्न हुए। तुरत हस्तिनापुर लौट आ कर उस ने अपने मन में इस का बदला लेना ठान लिया। द्यूतक्रीड़ा और पाण्डवों के निर्व्वासन का यही प्रधान कारण था। इसी फल से पीछे कुरुक्षेत्र में महा संग्राम हुआ और उस में उभय पक्ष के असंख्य आत्मीय स्वजनों तथा दुर्योधन के प्राण पर्य्यन्त नाश हुए।

बुराई के बदले बुराई करने से बुराई और भी बढ़ती है। भृगु के पुत्र जमदग्नि तपस्या और कठोरता के लिए विख्यात थे। उन के पुत्र परशुराम यद्यपि जाति के ब्राह्मण थे परन्तु स्वभाव उन का क्षत्रियों के ऐसा कठोर था। उन के पितामह की यह भविष्यद्वाणी

थी कि वह क्षत्रगुण-सम्पन्न और रण-कुशल होंगे । वास्तव में वह वैसे ही हुए। जमदग्नि में भी कठोरता छिपी हुई थी। उत्कट तपस्या से भी उस का नाश नहीं हुआ । इसी से इस वंश में एक महा दुर्घटना हुई थी। एक समय अपने कठोर स्वभाव के कारण जमदग्नि ने अपनी स्त्री के सतीत्व पर अनुचित सन्देह कर अपने पुत्रों को उसे मार डालने की आज्ञा दी। परन्तु परशुराम को छोड़ और कोई अपनी माता के पवित्र शरीर पर हाथ उठाने में सहमत न हुआ। परशुराम ने फरसे से अपनी माता का शिर काट डाला । इस से प्रसन्न हो कर जमदग्नि ने परशुराम को वर देना चाहा । उस ने अपनी माता का पुनर्जीवन मांग मातृहत्या के पाप से मुक्ति पाने के लिए तीर्थयात्रा को प्रस्थान किया; पर इस से भी पापरूपी क्रोध को न त्याग सका। एक समय जब जमदग्नि का पुत्र आश्रम से कहीं बाहर गया था और आश्रम में केवल उन की स्त्री रेणुका थीं, उस समय कार्तवीर्यार्जुन वहां आकर अतिथि हुए; पर उन के यथायोग्य सम्मान उन्हें दिखाया नहीं गया, इस कारण वह क्षत्रिय-दर्प से अन्धा हो महर्षि की कामधेनु का बछा खोल कर बलपूर्वक ले चले। परशुराम के घर लौटने पर जमदग्नि ने अपनी यह अपमान-कहानी उन से कही। इस से और विशेष कर बछा छीनी हुई धेनु की कातर ध्वनी से परशुराम का क्रोध दूना हो गया। उस ने उसी क्षण फरसा ले कार्तवीर्यार्जुन के सहस्र बांह काट कर अन्त को उन्हें मार डाला। इस से क्रुद्ध हो कर कार्तवीर्यार्जुन के बन्धुओं ने ध्यानमग्न जमदग्नि के आश्रम में घुस उन्हें समाप्त कर दिया। क्षमा के शिवा ऐसी दुर्घटनाओं की और कोई औषधि नहीं है। परशुराम के क्षमाशील न होने के कारण यह हत्याकाण्ड

यहां ही समाप्त न हुआ। परशुराम ने आश्रम में आ पिता के हत्या को बात सुन उन का मृतक संस्कार किया; पीछे पिता की चिता छू कर यह प्रतिज्ञा की कि मैं जगत को नि:क्षत्रिय कर दूंगा। अनन्तर इसी प्रतिज्ञा के अनुसार पहले कार्तवीर्य्य के आत्मीय स्वजनों को मार डालने के बाद वह चिरजीवन और २ क्षत्रियों के ध्वंश में ही लगे रहे।

यदि कोई मेरे प्रति अन्याय और निर्द्दय व्यवहार भी करे, तो उस को शान्त और विनीत व्यवहार से सानुकूल करने का यत्न करना चाहिए। एक समय महर्षि दुर्व्वासा दुर्य्योधन के यहां अतिथि हुए। उन को सन्तुष्ट रखना बड़ा ही कठिन काम था। दुर्य्योधन अपने भाइयों के सहित सब काम छोड़ उन की सेवा में लगा रहता था। कभी तो दुर्व्वासा बोल उठते थे कि बड़ी भूख लगी है, कुछ खिलाओ; कभी ऋषि स्नान को जाते और दुर्य्योधन भोजन प्रस्तुत कर उन की प्रतीक्षा में रहता; परन्तु दुर्व्वासा बहुत देर के बाद लौटने पर बोलते कि अब भूख नहीं है, नहीं खाऊंगा; फिर तुरत ही कहने लगते कि बड़ी भूख लगी है, शीघ्र खाने को दो। कभी कभी आधी रात को खाने की वस्तु मंगा उस का एक कण भी न छू यों ही सब छोड़ देते। इस तरह कुछ दिन तङ्ग करने के बाद वह दुर्य्योधन के धैर्य्य से प्रसन्न हो कर बोले "मैं तुझे वर दूंगा; क्या चाहता है? कह। धर्म्म और नीति के सानुकूल जो वर मांगेगा वह दूंगा"।

पर कभी कभी ऐसे कठोर व्यक्ति देखने में आते हैं जिन के साथ कितना ही सद्व्यवहार क्यों न करो और सुवाक्य क्यों न बोलो, पर उन का हृदय पिघलने वाला नहीं। ऐसे लोगों

का नाश निश्चय होता है। दुर्योधन ही इस का एक अच्छा दृष्टान्त है। पाण्डवों की राज-सम्पत्ति सब छीन कर और उन्हें वनवास और अज्ञातवास कराने पर भी उसे सन्तोष नहीं हुआ। उन का यह असह्य दुःख अपनी आंखों देख कर तृप्त होने और अपनी सम्पदा तथा भोग-विलास दिखा कर पाण्डवों को लज्जित करने तथा उन के मन में दुःख देने के लिए वह सकुनि की मन्त्रणा से अपने कुटुम्ब और पुरनारियों के साथ द्वैत वन को चला; परन्तु उस का वह मनोरथ पूरा नहीं हुआ। मार्ग में ही उस के दुर्धर्ष अहंकार के कारण उसे दुर्धर्ष गन्धर्वों के साथ युद्ध करना पड़ा और अन्त को अपने अनुचरों के साथ उन्हीं गन्धर्वों के हाथ बन्दी होना पड़ा। दुर्योधन के अनुचरों में से भागे हुए दो एक लोगों से जब युधिष्ठिर ने दुर्योधन की यह कथा सुनी, तब उन ने अपने भाइयों को सबांधव दुर्योधन और पुरनारियों का गन्धर्वों से उद्धार कर अपने वंश की मर्यादा की रक्षा करने के लिए आज्ञा दी। भीम ने पहले न माना, पर जब युधिष्ठिर ने उन से कहा "भाई तुम अन्याय-आपत्ति क्यों करते हो; शत्रु भी शरणागत हो तो सब प्रकार से उस की रक्षा करनी चाहिए। एक भी शत्रु को विपद से बचाने में जो आनन्द होता है, पुत्र-जन्म, राज-प्राप्ति और वरदान इन सबों के होने से जो आनन्द होता है वह भी इस के समान है या नहीं, इस में सन्देह है।" इस पर भीम को उन की आज्ञा उल्लंघन करने का साहस न हुआ। दोनों दलों में थोड़ी देर तक युद्ध होता रहा। गन्धर्वराज अर्जुन के सखा थे; इसी से वे शीघ्र ही युद्ध से निवृत्त हुए। अर्जुन से गन्धर्वराज का दुर्योधन पर आक्रमण करने का कारण पूछे जाने पर, उस ने कहा

"वनवास-जनित पाण्डवों की दीनता और दुःख को देख कर और अपने तथा अपने स्वजनों के ऐश्वर्य्य और भोग-विलास को दिखा उन की लज्जा और मनस्ताप की वृद्धि कर असीम आनन्द प्राप्त करने की इच्छा से दुर्योधन दलबल के साथ बन में आया था। मैं ने उस के मन की बात जान ली। इस लिए इन्द्र के निकट लि जाकर उसे उचित दण्ड देने के अभिप्राय से उस को कैद कर रक्खा है।" अर्जुन ने गन्धर्वराज की प्रशंसा कर दुर्योधन और उस के साथियों को छोड़ देने के लिए कहा। इस प्रकार उन सबों का उद्धार करा कर युधिष्ठिर ने दुर्योधन से कहा "भाई! बिना विचारे काम करना छोड़ो, इस से कभी शान्ति नहीं पावोगे। तुम सबों का मंगल हो, खेद त्याग हस्तिनापुर जा कर सुख से प्रजापालन करो।" युधिष्ठिर ने पाण्डवों के सब दुःख का कारण और चिर शत्रु दुर्योधन के प्रति इस प्रकार अलौकिक उदारता और दया दिखाई सही, पर इस के बदले दुर्योधन के मन में कृतज्ञता या अनुताप का होना तो दूर रहा, उल्टा उस का हृदय अधिक क्रोध और दुःख से उबल उठा; और पाण्डवों का अनिष्ट जैसे हो सके इस विचार में वह लगा रहा।

सौभाग्यवश इस प्रकार के जीव पृथ्वी में विरले ही होते हैं। जिस तरह सूर्य्य नवनीत को गला देते हैं उसी तरह सद् व्यवहार भी बहुधा क्रोध को गला देने में समर्थ होता है।

"क्रुद्धन्तं न प्रतिक्रुध्येत् आक्रुष्टः कुशलं वदेत्।"

(मनु ६। ४८)

क्रोधी नरपति क्रोध न लाओ।
बरन मधुर वच बोल सुनाओ॥

* * * *

"सेतुंस्तर दुस्तरान् अक्रोधेन क्रोधं सत्येनानृतं।"

(सामवेद)।

दुस्तर क्रोध समुद्र को तरो क्रोध को छोड़ ।
विजय करो तुम सत्य से अनृत को झकझोर ॥

*　　*　　*　　*

"आत्मानञ्च परांश्चैव त्रायते महतोभयात् ।
क्रुद्धन्तम् प्रतिक्रुध्यन् द्वयोरेव चिकित्सक: ॥"

(महाभारत वनपर्व २९।९)

जो नर क्रोधी को निरख करे क्रोध परिहार।
सो महान भय से सदा निज पर का रखवार ॥

*　　*　　*　　*

"क्षमा ब्रह्म क्षमा सत्यं क्षमा भूतं च भावि च।
क्षमा तप: क्षमा शौचं क्षमयेदं धृतं जगत् ॥"

*　　*　　*　　*

क्षमा ब्रह्म तप शौच पुनि क्षमा सत्य मतिमान।
क्षमा जगतधारक तथा भूत भव्य सब जान ॥

*　　*　　*　　*

"पश्चेदिन मतिवाने भ्रंशं
विधुयेत्क्षम एवेह कार्य्य: ।
संरोप्यमान: प्रतिहृष्यति य:
स आदत्ते सुकृतं वै परस्य ॥
आक्रुश्यमानो न वदामि किञ्चित्
क्षमाम्यहं ताड्यमानश्च नित्यं ।
श्रेष्ठं ह्येतद्यत् क्षमामाहुरार्य्या:
सत्यं तथैवार्ज्जवमानृशंस्यम् ॥

आक्रुश्यमानो नाक्रुश्येन् मन्युरेनं तितिक्षत: ।
आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्यविन्दति ॥
यो नात्युक्त: प्राहरुक्षं प्रियं वा
यो वाहतो न प्रतिहन्ति धैर्यात् ।
पापश्च यो नेच्छति तस्य हन्तु:
तस्येह देवा: स्पृहयन्ति नित्यं ॥
पापीयस: क्षमेतैव श्रेयस: सदृशस्य च ।
विमानितो हतोत्क्रुष्ट एवं सिद्धिं गमिष्यति ॥"

(महाभारत शान्तिपर्व्व ३०० अ:)

जो सुन विज्ञ वचन कटु नाना ।
करे न क्रोध कभी मति माना ॥
सुन कर रिस उपजावनि बाता ।
परिहर क्रोध अधिक मुसुकाता ॥
सो सब भांति अधिक हरखाता ।
परकृत सकल पुण्य फल पाता ॥
मैन परूष सुन कर रिस करता ।
हुए प्रहार क्षमा मन धरता ॥
क्षमा सत्य आर्जव सुख खाना ।
आनृशंस्य है श्रेष्ठ बखाना ॥
परूष वचन सुन परूष न भाखे ।
सदा तितिक्षा मन मे राखे ॥
क्रोध क्रुद्ध को सदा जलाता ।
उस का सुकृत क्षमा युत पाता ॥

जो नर कूट वचन सुन जाता ।
भला बुरा नहिं आप सुनाता ॥
घात किये प्रतिघात न करता ।
घातक का अनिष्ट नहिं धरता ॥
तिसे चाहते देव सयाने ।
धन्य धैर्य जो मन मे आने ॥
श्रेष्ठ होय वा आप समाना ।
अथवा हो पापी सुमहाना ॥
क्षमा करो अपमान किये भी ।
घात किये या क्रूर कहे भी ॥

*　　*　　*　　*

"आक्रुश्यताडितः क्रुद्धः क्षमते यो बलीयसः ।
यश्च नित्यं जितक्रोधो विद्वानुत्तम पुरुषः ॥"

(महाभारत वनपर्व २९)

क्रुद्ध वचन सुन घात सहे और सुने भी क्रूर ।
जिस ने जीता क्रोध को वही पुरुष है शूर ॥
क्षमा शील पृथिवी सरिस नर न रहे जो बुद्ध ।
होय न सन्धी मनुज मे क्रोध मूल सब युद्ध ॥

*　　*　　*　　*

"यदि न स्युर्मानुषेषु क्षमिणः पृथिवी समाः ।
न स्यात् सन्धिर्मनुष्याणां क्रोधमूलोहि विग्रहः ॥
अभिषक्तो ह्यभिषजेदाहन्यात् गुरुणा हतः ।
एवं विनाशो भूतानां अधर्मः प्रथितो भवेत् ॥ २६
आक्रुष्टः पुरुषः सर्व्वं प्रत्याक्रोशेदनन्तरं ।
प्रतिहन्याद्धतश्चैव तथा हिंस्याच्च हिंसितः ॥ २७

हन्युर्हि पितरः पुत्रान् पुत्राश्चापि तथा पितृन् ;
हन्युश्च पतयो भार्याः पतीन् भार्यास्तथैवच ॥ २८
एवं संकुपिते लोके जन्म क्वापि न विद्यते ॥ २९"
(महाभारत बनपर्व्व २९ अ:)

जो अनिष्ट पायेऽथवा गुरु से पावै प्रहार ।
दे प्रति फल नर नष्ट हों हो अधर्म परचार ॥
परुष वचन सुन परुष उचारे ।
या कर चोट आप भी मारे ॥
पिता पुत्र को वध कर डारे ।
पुत्र पिता को बिना विचारे ॥
पति पत्नी को करे प्रहारा ।
पत्नी ने हनि पति को मारा ॥
इस प्रकार यदि होय अचारा ।
कहो चलै कैसे संसारा ॥

*　　*　　*　　*

"सर्व्वस्तरतु दुर्गाणि सर्व्वो भद्राणि पश्यतु ।
सर्व्वो सुखमवाप्नोतु सर्व्वः सर्व्वत्र नन्दतु ॥"

सभी दुर्ग दुस्तर तरें देखें भद्र अशेष ।
सब ही सुख पावें परम, पावें हर्ष विशेष ॥

*　　*　　*　　*

"ओं सत्यं वद धर्मं चर सत्यमेव जयते नानृतं ओं ॥"

ओश्म् । कहो सत्य सब काल में करो आचरण धर्म ।
सत्य जयी अनृत नहीं यही गूढ़ है मर्म । ओश्म् ॥

समाप्तम् ।

शब्दार्थ-प्रकाश (Glossary)

अखण्डत्व पूर्णता का भाव।
अखिलात्म सब का आत्मा।
अग्निशर्मा अत्यन्त क्रोधी।
अघमीना पाप की मछली।
अच्छेद्य जो काटा नहीं जा सकता
अजातशत्रु जिस का कोई भी शत्रु नहीं जन्मा है।
अद्वैत ईश्वर-जीव की एकता।
अन्तरमुखी भीतर की ओर जाने वाली; अपने अन्तःकरण की ओर झुकी हुई।
अन्तरेन्द्रिय भीतर की इन्द्रिय।
अनसूयता दूसरे का दोष न देखना।
अनसूयालीना दूसरे के दोष देखने से अलग।
अनात्म आत्मा से भिन्न।
अनाहार उपवास।
अनुकरण नकल।
अनुप्राणित जीवित।
अनुरोध खुशामद से प्रार्थना करना।
अनुशीलन विचार।
अनुसन्धान खोज।
अपवाद निन्दा।
अपरिमेय तुलना रहित; जिस का नाप नहीं हो सकता।
अभ्युदय उन्नति।
अराति शत्रु।
अर्थहानि धन का नाश।
अवज्ञा अपमान; घृणा।
अवलम्ब आश्रय।
अव्याहत रुकी हुई नहीं।
असत् झूठा।
असूया डाह; द्वेष।
असंरंभ क्रोध न करना।
अस्तेय चोरी।
अंशुमालारूप किरण समूह के समान।
आकर्षण अपनी ओर खिंचावट
आचरणीय व्यवहार करने योग्य।
आडम्बर धूमधाम।
आत्मनिर्भरता अपने उपर भरोसा रखना।
आत्मनिर्विशेषता अपने समान जानना।
आत्मश्लाघा आप ही अपनी प्रशंसा।
आदृत सन्मानित।
आभ्यान्तरिक भीतर का।

आबद्ध बंधा हुआ।
आविर्भाव प्रकाश।
आशु शीघ्र; जल्दी।
उच्चवृत्तिसम्पन्न जिस की इच्छा ऊंची हो।
उच्छवृत्ति खेत से अन्न चुन कर जीवन धारण करना।
उद्दीपक जनाने वाला।
उन्मेष खिलना।
उपदिष्ट बतलाया।
उपनीत पहुंचाया हुआ।
उपलब्धि प्राप्त।
ऊर्ध्वरेता जिस का वीर्य-पात कभी न हुआ हो।
उल्लास हर्ष।
ऋजुता कोमलता।
ऋत् सत्य।
ऋत्विक पुरोहित।
एकात्मत्व एक आत्मा का होना
एकत्व एक का भाव।
एकात्मवाद सब जीवों में एक ही आत्मा है, यह सिद्धान्त।
ऐश्वर्य धन, यश इत्यादि।
कर्त्तव्याकर्त्तव्य करने योग्य और न करने योग्य।
कल्पित माना हुआ।
कायदण्ड शारीरिक दण्ड।
कारागृह कैदखाना।
कुत्सा निन्दा।

क्रमविकाश धीरे २ प्रगट होना।
क्रमाभिव्यक्ति धीरे २ किन्तु समय पर पूरा प्रकाश होना।
क्लान्ति थकावट।
क्षणभंगुर नाशवान।
क्षणिक थोड़ी देर रहने वाला
क्षुधार्त भूख से व्याकुल।
क्षोभ दुःख।
गुणग्राहिता गुण का गाहक बनना; दूसरे के गुणों पर लट्टू होना
गम्यहेतु जानने योग्य।
गृहीता लेने वाला।
चरमोत्कर्ष उन्नति की पराकाष्ठा; जिस से और उन्नति हो नहीं सकती।
चिरप्रतिष्ठित बहुत दिनों का स्थापित किया हुआ
छद्मवेश कपट भेष।
जाज्वल्यमान प्रकाशमान; उज्वल।
तत्प्रतिपादित उस से किया हुआ
तत्वानुशीलन यथार्थ बात का विचार।
तामसिक तमोगुणी; तामसी; क्रोधी।
तितिक्षा सहनशीलता।
त्रिगुणात्मिका तीनों गुण (सत, रज, तम) वाली।

तुषानल भूसा की आग (अत्यन्त दुःख)।
दक्षता निपुणता; चतुराई।
दम इन्द्रियों को वश में करना।
दाक्ष्य निपुणता।
दाम्भिक कपटी; घमंडी।
दावानल जंगल की आग।
दुर्निग्रह रोकने में कठिन।
दुरवस्था बुरी दशा।
दुष्पूरणीय जिस का पूरा होना कठिन है।
दृष्टिगोचर आंख के सामने।
दैहिक देह से सम्बन्ध रखने वाला।
धृति धैर्य्य।
निगूढ़ छिपा हुआ; गंभीर।
नित्य सदा; सनतान; निरन्तर।
निदारुण कठोर।
निम्नपदस्थ छोटा; नीचे दर्जे का
नियन्ता नियम में चलाने वाला
नियन्त्रित रोका हुआ।
निऋ॑ति विपद।
निवृत्तिमार्ग प्रवृत्तिमार्ग देखो।
नृशंसता क्रूरता; निठुराई।
निश्रेयस मोक्ष; कल्याण।
नैसर्गिक स्वभाव-सिद्ध।
नैमित्तिक कारणवश होने वाला।
परस्परानुकूल एक दूसरे के अनुसार
पराकाष्ठा हद।
परार्थपरता दूसरे के उपकार में लगना।
परासुत्व दूसरे को उद्वेग देना।
परिणामदर्शी आखरी नतीजे तक देखने वाला।
परिहार त्याग।
परुष कठोर।
पर्य्यालोचना विचार।
पापाहार पाप कर्म्म द्वारा भोजन।
पार्थक्य भेद।
पारिवारिक परिवार सम्बन्धी।
पुरन्दर इन्द्र।
पैशून्य दुष्टता।
प्रकृत यथार्थ।
प्रज्ञा बुद्धि; समझ।
प्रतिक्रिया कार्य्य के बदले कार्य्य
प्रतिबाधक रोक; बाधा।
प्रतिवासी पड़ोसी।
प्रतीयमान जान पड़ता हुआ।
प्रत्यागात्म सब का आत्मा।
प्रत्याहाररूपी इन्द्रियों को विषय से खींचने रूप।
प्रदक्षिणा दाहिनी ओर से चारों ओर घूमना; परिक्रमा
प्रवृत्ति किसी काम में लगने की इच्छा।
प्रवृत्तिमार्ग प्रवृत्ति=स्वभाव; मार्ग=रास्ता; जिस मार्ग में

मनुष्य अपनी इच्छा के मुताबिक़ काम करता है । दूसरा निवृत्तिमार्ग है। इस मार्ग में अपनी इच्छा को रोकना पड़ता है । उदाहरण स्वरूप:— (१) एक स्त्री के मर जाने पर दूसरा विवाह करना प्रवृत्तिमार्ग में जाना है; और (२) पुनर्विवाह न करना निवृत्तिमार्ग में जाना है

प्रवृत्तिमूलक इच्छा से सम्बन्ध रखने वाला ।

प्रान्तर मैदान ।

प्रेमालिंगन प्रेम से गले लगाना

बहिरेन्द्रिय बाहरी इन्द्रिय ।

विकाश प्रकाश; चमक ।

बिचारक्षम बिचार करने में समर्थ

वेग तेजी ।

ब्रह्मचर्य्य ब्रह्मचारी का धर्म्म; स्त्री-संभोग की इच्छा का दमन ।

भूत जीव या तत्व (अग्नि वायु इत्यादि) ।

मधुमय मीठी ।

मर्म्मान्तिक हृदयभेदी; अत्यन्त पीड़ा देने वाली ।

महाप्रस्थान मरने के लिए यात्रा

महोन्नत अत्यन्त शिक्षित ।

मात्सर्य्य डाह ।

मीमांसा विचार; निर्णय ।

मुनिरोध रोकना ।

मूलोच्छेद जड़ से नाश ।

मृदुता कोमलता ।

मृषा झूठ ।

मौलिक मूल से संबंध रखने वाला ।

यूप जिस काठ में बांध कर पाठा या दूसरे प्राणियों की बलिदान किया जाता है; खंभा ।

रमणी स्त्री ।

रसना जीभ ।

राजप्रासाद राजा का मकान; "प्रासाद" का भी वही अर्थ है ।

वंशोद्भव वंश में जन्मे हुए ।

वहिर्मुखी बाहर की ओर जाने वाली; संसार में लिपटी हुई ।

वाक्यसंयमता (१) बहुत बात न करने का अभ्यास; (२ कठोर या अश्लील बात के उच्चारण से विमुख रहने का अभ्यास ।

बाह्य	बाहर का।
विकर्षण	अपने से दूर हटा देना।
विधित्सा	करने की इच्छा।
विधिनिषेध	किसी काम को शास्त्रतानुसार मना-ही।
विपुल	बहुत।
विरति	वैराग्य।
विशिष्ट	बड़ा।
विश्वदेही	संसार जिस का देह है।
विषमता	(१) असमानता; (२) कठोरता।
वृत्ति	इच्छा।
व्यक्त	प्रगट; स्पष्ट।
व्यक्ति	लोग।
व्यवसायात्मिक	कार्य्य में तत्पर।
शब्दोत्पादकता	शब्द उत्पन्न करने की शक्ति।
शाश्वत	चिरस्थायी।
शिविर	पड़ाव।
शृङ्खलाबद्ध	सिलसिलेवार।
संचार	गति।
संयत	रोका हुआ।
सजलनेत्र	आंसू भरी हुई आंखों से।
सञ्चित	इकट्ठी की हुई।
सतिभाय	सच्चे भाव से।
सद्भाव	सच्चा भाव।
सद्वृत्ति	अच्छा काम।
सन्निकट	नज़दीक।
समधर्म्मी	समान धर्म्म वाला।
समभिक	ईर्षी।
सम्प्रति	अधुना; अभी।
समष्टि	समूह; सब।
सर्व्वस्व	सब कुछ।
सर्व्वार्थपरता	सब की भलाई में लगना।
सहिष्णुता	सहनशीलता।
सात्विक	सतोगुणी; सीधा; सच्चा।
साम्यता	समानता; बराबरी।
सामर्थ्यवृद्धिशीलता	सामर्थ्य को बढ़ाने का उत्साह।
सार्वजनिक	सब से सम्बन्ध रखने वाला।
सीमाबद्ध	हद के भीतर।
सुनियन्त्रित	भली भांति नियम में चलाया हुआ।
सुश्रूषा	सेवा।
स्थूल	मोटा।
स्पन्दन	धीरे २ हिलना; फरकना।
स्मृति	स्मरण शक्ति।
स्वातंत्र्याभिमानी	स्वतन्त्रता का अभिमान रखने वाला
स्वार्थपरता	अपनी ही भलाई में रहना।
हृदयविदारक	हृदय फाड़ने वाला